प्रथम अध्याय

1.1 भाषा और समाज का अंतर्संबंध

भाषा मानव समाज की अविच्छिन्न इकाई है। यह किसी भी समाज के सांस्कृतिक तथा बौद्धिक मूल्यों की संवाहिका और विकास की सूचक होती है। मनुष्य के अनुभव, व्यवहार, विचार, चिंतन आदि सभी उसके सामाजिक परिप्रेक्ष्य से संबंधित होते हैं जिसकी अभिव्यक्ति वह भाषा के माध्यम से करता है। भाषा का मूल उद्देश्य संप्रेषण की प्रक्रिया को संपन्न करना तथा भाषा-प्रयोक्ता की सामाजिक अस्मिता को स्थापित करना है। इसीलिए विभिन्न सामाजिक संदर्भों में मनुष्य अपनी सर्जनात्मक भाषा के जरिये सूचनाओं का आदान-प्रदान करता है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि मनुष्य अपने परिवेश अथवा समाज से ही भाषा सीखता है और उसका प्रयोग भी समाज में ही करता है। इस दृष्टि से भाषा एक सामाजिक तत्व है जो सामाजिक व्यवस्था, मूल्यों के अतिरिक्त इसके प्रयोक्ताओं के विषय में सूचना देता है। जैसा कि पीटर ट्रडगिल कहते हैं "Our accent and our speech generally show what part of the country we come from, and what sort of background we have."[1] अर्थात् हमारे लहजे और हमारी भाषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि हम देश के किस भाग और किस पृष्ठभूमि से हैं। तात्पर्य यह है कि हमारी भाषा में वे सभी सामाजिक तत्व शामिल होते हैं जो हमारे शैक्षिक, सामाजिक और आर्थिक स्तर, कार्य-क्षेत्र, भौगोलिक पृष्ठभूमि आदि की जानकारी देते हैं। उदाहरण के तौर पर किन्हीं दो अजनबी व्यक्तियों की प्रथम बातचीत को देख सकते हैं जो सामान्य संप्रेषण द्वारा एक-दूसरे के बारे में सूचनाएँ प्राप्त कर लेते हैं। एक दूसरे के लहजे, उच्चारण, शब्द-चयन, व्याकरणिक प्रयोग आदि से निवास स्थान, जातिगत अस्मिता का पता चलता है। इसके अलावा वाक्य व्यवहार में प्रयुक्त शब्द (प्रयुक्तियाँ) उसके व्यवसाय-क्षेत्र का संकेत देते हैं। यानी सामान्य विषय पर औपचारिक बातचीत करते हुए पारस्परिक बोधगम्यता के आधार दोनों एक-दूसरे के परिवेश-समुदाय, सामाजिक-आर्थिक स्तर, शिक्षा आदि के बारे में जान सकते हैं। अर्थात् भाषा केवल एक मानसिक संकल्पना न होकर एक संस्थागत प्रतीक भी है जिसका अध्ययन सामाजिक संदर्भ से इतर संभव नहीं है। किसी भी बात के कहे जाने के पीछे देश, काल, वातावरण, आशय, सामाजिक संबंध आदि का विशेष ध्यान रखा जाता है।

प्रारंभिक समय में भाषा को प्रतीक व्यवस्था कहकर केवल उसके संरचनागत पक्ष को महत्व दिया गया। भाषाविज्ञान भाषा के व्यावहारिक पक्ष को नजरंदाज करता है। जबकि भाषा सामाजिक संपत्ति है। बिना सामाजिक परिवेश के भाषा की उत्पत्ति और विकास होना संभव नहीं है। रवींद्रनाथ श्रीवास्तव का कहना है कि

"वह (मनुष्य) समाज में रहने की नियति लेकर पैदा होता है। उसकी अपनी सत्ता हमेशा सामाजिक संदर्भों की माँग करती है। इसीलिए भाषा को मानव-मन की आतंरिक प्रकृति और बाह्य सामाजिक संदर्भों की द्वंद्वात्मक प्रक्रिया का परिणाम माना जा सकता है।"[2] किन्तु प्रारंभिक दौर में भाषा का अध्ययन संरचनावादी दृष्टिकोण से ही होता था। इसके प्रबल समर्थकों में सस्यूर और चॉम्स्की का नाम अग्रगण्य है। सस्यूर ने अपनी भाषा संबंधी अवधारणा में भाषा के दो आयाम प्रस्तुत किये: भाषा (लांग/ Langue) और वाक् (परोल/ Parole)। लांग अर्थात् 'भाषा-व्यवस्था' जिसे भाषा की समरूपी (Homogeneous) प्रकृति कहा जाता है। यह मूलतः भाषा की नियमबद्ध संरचना होती है जो किसी भाषा के सभी प्रयोक्ताओं के मस्तिष्क में एक सामान होती है। मानव मस्तिष्क में संचित भाषा की इसी समरूपी संरचना के आधार पर भाषाई प्रक्रिया संचालित होती है। यह भाषा का समाज-निरपेक्ष रूप है जिसमें किसी भी तरह का परिवर्तन मान्य नहीं होता है। उदाहरण के लिए हिंदी और अंग्रेजी के वाक्य प्रयोग को देखें तो इसकी आतंरिक संरचना कुछ इस प्रकार है-

हिंदी: कर्ता + कर्म + क्रिया (Subject + Object + Verb)

अंग्रेजी: कर्ता + क्रिया + कर्म (Subject + Verb + Object)

कोई भी व्यक्ति हिंदी अथवा अंग्रेजी भाषा के व्यवहार में उपर्युक्त भाषिक नियमों या संरचना का अनुसरण करते हुए नये वाक्यों की रचना करता है। इसी तरह से सभी भाषाओं की जो भाषिक संरचना निर्धारित है वह अप्रत्यक्ष तौर पर भाषा के रूप को निर्धारित और नियंत्रित करती है। जबकि वाक् अथवा परोल 'भाषा-व्यवहार' से संबद्ध है। यह पूर्णतः भाषा का समाज-सापेक्ष रूप है जो समाज में प्रचलित और समाज द्वारा निर्धारित होती है। इसमें प्रमुख रूप से सामाजिक संदर्भों-नियमों और सामाजिक स्तर-भेदों का ध्यान रखा जाता है। यह भाषाई व्यवहार अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा अलग-अलग सामाजिक पृष्ठभूमि और सन्दर्भों में प्रयुक्त होने के कारण इसके शैली-भेद अनेक होते हैं। इसीलिए भाषा का यह रूप स्थिर न होकर विषमरूपी (Heterogeneous) होता है। इसे 'प्रयुक्त भाषा' भी कहा जाता है। बतौर उदाहरण कुछ वाक्य दृष्टव्य हैं-

हिंदी: 'अच्छा विद्यार्थी अनुशासन का पालन करता है'/ 'रामचन्द्र शुक्ल ने हिंदी साहित्य का इतिहास लिखा'(कर्ता + कर्म + क्रिया)

अंग्रेजी: 'Dipesh plays foolball'/ 'We should do exercises for good health' (कर्ता + क्रिया + कर्म)

हिंदी और अंग्रेजी दोनों ही भाषाओं के इन वाक्यों की संरचना में क्रमशः उनके भाषिक नियमों का पालन किया गया है। इन दोनों भाषाओं के वाक्यों को यदि हम अलग-अलग देखें तो इनकी आतंरिक संरचना भाषा के अनुसार एक है किन्तु व्यावहारिक पक्ष प्रयोजन पर आधारित हैं। यानी इन वाक्यों में कर्ता, कर्म और क्रिया का क्रम तो एक है लेकिन अलग-अलग वाक्यों में कर्ता, कर्म और क्रियाएँ बदलती रहती हैं। कुलमिलाकर, भाषा की विषमरूपी प्रकृति भाषा की बाह्य संरचना है। जिसमें भिन्न व्यावहारिक स्तर पर भाषा का प्रयोग भी भिन्न होता है। अलग-अलग शब्दों के चयन से अभिव्यक्ति तो होती है परन्तु उसके मूल में आधार के तौर पर उस भाषा की आतंरिक संरचना ही मौजूद रहती है। इसीलिए सस्यूर वाक् या परोल को भाषा का एक रूप मानकर उसे महत्व देना उचित नहीं समझते हैं। उनके अनुसार भाषाविज्ञान का लक्ष्य भाषा की आधार संरचना अर्थात् भाषिक व्यवस्था का अध्ययन है। परोल यानी विषमरूपी प्रकृति को वे गौण अथवा संयोगिक (coincidental) मानते हैं। उनके अनुसार भाषा की विषमरूपी प्रकृति केवल भाषा-व्यवस्था को व्यंजित करने का कार्य करती है। भाषा के इसी समरूपी और विषमरूपी प्रकृति को चॉम्स्की क्रमशः 'भाषिक क्षमता' (Language Competence) और 'भाषिक व्यवहार' (Language Performance) कहते हैं। चॉम्स्की भी सस्यूर की तरह भाषिक क्षमता को मानव मस्तिष्क में संचित ज्ञान मानते हैं जिसके जरिये भाषा को समझा और बोला जा सकता है तथा भाषिक व्यवहार को भाषिक क्षमता का प्रायोगिक रूप मानते हैं जिसका सामाजिक संदर्भों में प्रयोग होता है। इस आधार पर भाषिक क्षमता समाज-निरपेक्ष और मानसिक होती है तथा भाषिक व्यवहार भौतिक और सामाजिक होता है। इसी तर्ज़ पर चॉम्स्की ने सस्यूर की भाँति भाषिक क्षमता को भाषा अध्ययन के केंद्र में रखा और भाषिक व्यवहार को भाषिक क्षमता का विकृत रूप मानकर नकार दिया। ध्यातव्य है कि आधुनिक भाषाविज्ञान में भाषा की विषमरूपी प्रकृति को ही वास्तविक और मूर्त माना जाता है। इस विचारधारा के समर्थकों ने भाषा की समरूपी प्रकृति अर्थात् लांग की अपेक्षा विषमरूपी प्रकृति यानी परोल को कमतर नहीं आँका है क्योंकि भाषा प्रयोक्ता भिन्न सामाजिक संदर्भों में भिन्न भाषा-भेदों और शैलियों का प्रयोग करता है जो सामाजिक विशिष्टता के साथ ही भाषिक वैविध्य को उद्घाटित करता है। कुलमिलाकर देखा जाए तो भाषा की विषमरूपी प्रकृति का प्रमुख कारण भाषाई विकल्पन है अर्थात् वे भाषिक तत्व जो भाषाई विविधता को उत्पन्न करते हैं।

संरचनावादी भाषावैज्ञानिक भाषिक विकल्पन को यादृच्छिक मानकर उसे भाषाई त्रुटि मानते हैं जबकि भाषिक विकल्पन भाषा-विकास का प्रमुख कारक है। अतः भाषिक विकल्पनों का सामाजिक परिप्रेक्ष्य में

अध्ययन करने के उपरांत भाषा और समाज के बीच प्रगाढ़ व अन्योन्याश्रित संबंध स्पष्टतः दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त भाषाई विषमता भी तर्कसंगत और नियमबद्ध प्रतीत होती है। प्रो. रवींद्रनाथ श्रीवास्तव भाषाई विकल्पन के वर्गीकरण के दो आधार प्रस्तुत करते हैं-

1. *प्रयोक्ता सापेक्ष:* वक्ता के कारण भाषा में होने वाले विकल्पन को क्षेत्रीय शैली और सामाजिक शैली के अंतर्गत देखा जा सकता है। इसमें क्षेत्रीय शैली से तात्पर्य वक्ता के भौगोलिक व सामाजिक परिवेश के कारण उत्पन्न भाषाई विविधता से है। जैसे- कोई असमिया भाषी व्यक्ति यदि हिंदी में बात करता है तो वह हिंदी की 'च' ध्वनि का स्पष्ट उच्चारण करने में असुविधा महसूस करता है। अधिकतर स्थानों पर उसके द्वारा 'च' को 'स' ध्वनि के रूप में उच्चरित करने की संभावना बनी रहती है। इसी तरह से शब्द और वाक्य के स्तर पर भी विकल्पन की गुंजाईश बनी रहती है। इसके अतिरिक्त वक्ता की सामाजिक शैली में भिन्नता के कारण सामाजिक स्तर-भेद के भिन्न कारक जैसे- शिक्षा, आयु, लिंग, वर्ग आदि होते हैं। ये सामाजिक स्तर-भेद के विभिन्न कारक भाषाई विकल्पन के आधार होते हैं। उदाहरण के तौर पर हम देख सकते हैं कि शिक्षित वर्ग के लोग जहाँ अपनी भाषा में अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग करते हैं तो वहीं अशिक्षित तथा निम्न वर्ग के लोग अधिकतर देशज शब्दों का प्रयोग करते हैं।

2. *प्रयोग सापेक्ष:* प्रो. श्रीवास्तव के शब्दों में "प्रयोगसापेक्ष विकल्पन यह बताता है कि हम किस विषय पर किस माध्यम से बात कर रहे हैं और हम बात करने के लिए किस शैली या प्रविधि को अपना रहे हैं।"[3] उन्होंने प्रयोग सापेक्ष विकल्पन के अंतर्गत भाषा में व्यवहृत प्रयुक्तियों तथा वक्ता-श्रोता के भूमिकागत परिवर्तन के कारण होने वाले भाषाई भेद को आधार बनाया है। इसी आधार पर प्रयोग सापेक्ष विकल्पन को पुनः दो भागों में वर्गीकृत किया गया है। पहला, प्रयुक्तिसापेक्ष विकल्पन जिसमें वार्ता क्षेत्र (कार्यालयीय, व्यावसायिक, साहित्यिक क्षेत्र), वार्ता प्रकार (लिखित एवं वाचिक) और वार्ता शैली (औपचारिक-अनौपचारिक आदि) को ध्यान में रखकर प्रयोग किये गये विशेष तकनीकी शब्द शामिल हैं। दूसरा, भूमिकासापेक्ष विकल्पन जिसमें वक्ता और श्रोता के बीच के संवाद की स्थिति शामिल है। संवाद में वक्ता और श्रोता की भूमिकाएँ क्रमशः बदलती रहती हैं जिसके कारण सम्प्रेषण में एकालाप और संलाप दोनों की स्थिति सहज देखी जा सकती है। ऐसे में प्रोक्ति के स्तर पर जो भी भाषाई विविधता दिखाई देती है वह सभी भूमिकासापेक्ष विकल्पन के अंतर्गत आ जाती है।

भाषाई विकल्पन के समाज संदर्भित भिन्न आयामों को समझने के बाद एक बात तो स्पष्ट हो जाती है कि किसी भी उक्ति का सही विश्लेषण केवल व्याकरणिक आधार पर नहीं किया जा सकता है वरन् उसके लिए समाजिक संदर्भ भी आवश्यक है। कारण कि संवाद में प्रयुक्त एक ही उक्ति के विभिन्न सामाजिक संदर्भों के अनुसार कई अर्थ हो सकते हैं। अतः सही अर्थ की प्रतीति के लिए संदर्भ की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। उदाहरण के लिए 'किताब वहाँ रख दी है' इस वाक्य को देखें तो इसके एकाधिक अर्थ हैं। पहला, इसमें वक्ता ने किताब के किसी निश्चित स्थान पर रख देने की सूचना दी है। दूसरा, किताब वहाँ रखी हुई है आप ले सकते हैं/ तुम ले सकते हो। इस तरह बिना संदर्भ के ज्ञान के यह कहना बेहद मुश्किल है कि वक्ता और श्रोता के बीच का संबंध कैसा है? किताब रखे होने की केवल सूचना दी गयी है अथवा लेने हेतु अनुरोध, आग्रह या आदेश व्यक्त किया गया है। इस संदर्भ में रॉबिन लैकाफ की उक्ति उद्धृत करने योग्य है कि "एक ही संरचना दो भिन्न संदर्भों में दो भिन्न सामाजिक अर्थों को व्यक्त करती है।"[4] ठीक इसी प्रकार हम हिंदी के सर्वनामों के प्रयोग-संदर्भ में भी भाषाई विकल्पन को स्पष्टतः देख सकते हैं। आम तौर पर हिंदी में माध्यम पुरुष एकवचन के सर्वनाम के रूप में तू, तुम और आप का प्रयोग क्रमशः छोटे, हमउम्र तथा बड़े के लिए होता है। असमिया में तोय (तू)/ तुमि (तुम)/ आपुनि (आप) और बागानिया भाषा में तोंय (तुम)/ तुई (तुम)/ रउरा (आप) का द्वितीय पुरुष सर्वनाम के रूप में प्रचलन है। परन्तु अंग्रेजी में 'you' का प्रयोग बड़े, हमउम्र तथा छोटे सभी के लिए किया जाता है। ध्यातव्य है कि सामाजिक संदर्भों में हम इन सर्वनामों के प्रयोग में परिवर्तन देख सकते हैं। यद्यपि 'आप' का प्रयोग अपने से वरिष्ठ, उच्च पदाधिकारी लोगों के लिए होता है। किन्तु वार्तालाप में कई बार बच्चों को सम्मानपूर्वक 'आप' कहकर संबोधित किया जाता है। इसके अलावा अत्यंत क्रोधावेश में आकर अथवा हास-परिहास, व्यंग्यपूर्वक अपने से छोटों के लिए 'आप' तथा बड़ों के लिए 'तुम' का प्रयोग देखा जाता है। अधिकतर पति-पत्नी के संबंधों में पत्नी अपने पति को 'आप' कहकर संबोधित करती है तो वहीं पति अपनी पत्नी को 'तुम' अथवा 'आप' कहता है। ऐसे में यदि पति-पत्नी में से कोई एक अथवा दोनों ही किसी कारणवश 'तू' संबोधन का प्रयोग करने लगे तो यह अपमानसूचक होगा जिससे संबंधों में दूरी व खटास का बोध होता है। इस तरह से भाषा-प्रयोग में सामाजिक संस्कार अहम् भूमिका अदा करते हैं। भाषा सामाजिक संदर्भगत प्रभावों से स्वयं प्रभावित और परिवर्तित होती है तथा सामाजिक संबंधों में व्याप्त आत्मीयता को भी प्रभावित करती है। भाषा और समाज के पारस्परिक सह-संबंध के आधार पर प्रो. रवींद्रनाथ श्रीवास्तव ने इसकी तीन प्रवृत्तियों को रेखांकित किया है। ये प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं-

1. "'सार्वभौमिक व्याकरण' की प्रकृति के स्थान पर भाषा को विकल्पनों की उपव्यवस्था के रूप में देखने की प्रवृत्ति,
2. भाषा की अमूर्त अभिव्यक्ति और उसके साधारणीकृत सार्वभौम नियमों की खोज के स्थान पर उन वास्तविक सामाजिक संदर्भों की खोज की प्रवृत्ति जिनके बीच नियमों का प्रयोग होता है, और
3. भाषा को चिंतन एवं संप्रेषण का मात्र माध्यम मानने के स्थान पर उसे उस 'संप्रेष्य कथ्य' के रूप में स्वीकार करने की प्रवृत्ति जो व्यक्ति की सामाजिक अस्मिता, उसकी भाषा संबंधी अभिवृत्ति, भाषा-द्वंद्व आदि का सूचक होता है।"[5]

भाषा और समाज के बीच अंतरंग संबंध की इन प्रमुख प्रवृत्तियों पर विचार करने के उपरांत भाषाई विकल्पन के कुछ प्रमुख सामाजिक कारक नज़र आते हैं। वास्तव में इन्हीं सामाजिक घटकों के कारण समाज के अनुरूप भिन्न भाषा-भेदों का प्रचलन दिखायी देता है। इनमें से कुछ कारकों/ घटकों का उल्लेख नीचे किया जा रहा है-

* *शिक्षा:* वर्तमान समय में भी भारतवर्ष के लोग पूरी तरह से शिक्षित नहीं हैं। आज भी समाज में शिक्षित लोगों की तुलना में अशिक्षित तथा अर्द्धशिक्षित लोग अधिक हैं। शिक्षा के आधार पर यदि किसी समाज को वर्गीकृत करें तो इसमें अशिक्षित, सामान्य रूप से शिक्षित, अर्द्धशिक्षित तथा उच्च शिक्षित लोगों के विभिन्न स्तर किये जा सकते हैं। इन्हीं शैक्षिक स्तरों के कारण भाषा भी प्रभावित होती है। किसी भी व्यक्ति की भाषा को सुनकर उसके शैक्षिक स्तर का आसानी से पता लगाया जा सकता है। जैसे- यदि किसी व्यक्ति के मृत्यु की सूचना देनी हो तो उसे अलग-अलग शैक्षिक स्तर के लोग अलग-अलग तरीके से कहेंगे। जो शिक्षित व्यक्ति होगा वह कहेगा कि 'उनका देहांत हो गया', 'उनका स्वर्गवास हो गया' या 'वे दिवंगत/ अस्ताचलगामी हो गये' आदि। परन्तु एक अशिक्षित व्यक्ति उसी बात को कुछ इस प्रकार से अभिव्यक्त करेगा कि 'वह मर गया', 'वह लुढ़क गया', 'उसका काम तमाम हो गया' आदि। इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि उच्च शिक्षित व्यक्ति की भाषा प्रायः स्तरीय शब्दों से युक्त तथा व्याकरणिक दृष्टि से अधिक प्रौढ़ और परिष्कृत होती है। साथ ही इसमें अंग्रेजी के शब्दों की भी बहुलता होती है। इनकी भाषा में गंभीरता और गहनता होती है। बहुभाषिकता, कोड-मिश्रण और कोड-अंतरण की स्थिति हमें ज्यादातर शिक्षित वर्ग के लोगों की भाषा में मिलती है।

जबकि अशिक्षित अथवा अल्पशिक्षित लोगों की भाषा में लोक प्रचलित शब्दों की भरमार होती है। भदेसपन के कारण इनकी भाषा मानकता के निकष पर बहुत खरी नहीं उतरती है। इनकी भाषा में कोड-मिश्रण का देशी रूप अर्थात् बोलीगत मिश्रण प्राप्त होता है।

* *क्षेत्र*: अक्सर भाषा के प्रयोक्ता की मातृभाषा या फिर अंचल विशेष की स्थानीय भाषा का प्रभाव उसकी द्वितीय भाषा या अन्य भाषा पर अवश्य ही पड़ता है। वाचिक स्तर पर अथवा लेखन के क्रम में स्थानीय शब्दों का प्रयोग जाने-अनजाने हो ही जाता है। इतना ही नहीं समाचार पत्रों की भाषा में भी यह प्रभाव दिखाई देता है। जैसे- यदि हम असम के ही हिंदी समाचार पत्रों की भाषा पर गौर करें तो हम पायेंगे कि 'शिक्षक दिवस मनाया गया' के स्थान पर असम के हिंदी समाचार पत्र में इसी बात का कुछ यूँ उल्लेख मिलेगा 'शिक्षक दिवस का पालन किया गया/ शिक्षक दिवस उद्यापित किया गया।' इसके अलावा किसी आनुष्ठानिक सभा की समाप्ति की घोषणा के लिए 'सभा भंग किया जाता है', 'सभा विसर्जित की जाती है' जैसे वाक्यों का प्रयोग किया जाता हैं। ऐसा असमिया भाषा के प्रभाववश देखने को मिलता है।

* *वर्ग:* प्राचीन काल में समाज चार वर्णों में विभक्त था- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इस आधार पर तब भी उनकी भाषा में भिन्नता दिखायी देती थी। और, आज समाज वर्ण के साथ-साथ आर्थिक स्तर पर भी विभाजित है जिसे वर्ग की संज्ञा दी जाती है। भारतीय समाज आर्थिक स्थितियों के आधार पर चार वर्गों में विभक्त है- उच्च वर्ग, मध्य वर्ग, निम्नमध्य वर्ग और निम्न वर्ग। इसमें विशेषकर उच्च तथा मध्य वर्ग के लोगों की भाषा शिष्ट, मानक एवं परिष्कृत होती है तो वहीं शेष दो वर्गों में से निम्नमध्य वर्ग की भाषा प्रमुख रूप से मिश्रित होती है और निम्न वर्ग की भाषा में स्थानीय बोलियों के शब्दों का समावेश बहुतायत में देखा जाता है। इस तरह भाषाई प्रयोग के आधार पर किसी व्यक्ति की आर्थिक स्थिति को जाना जा सकता है। उदाहरण- 'मैं यथासंभव प्रयास करूँगा', 'हम कर लेंगे', 'उ पढ़बे नहीं न करता है' आदि।

* *धर्म:* धर्म का प्रभाव भी भाषा पर अवश्य पड़ता है। उदाहरणस्वरूप यदि हम हिंदू धर्म के लोगों की भाषाओं पर गौर करें तो वह प्रमुख रूप से संस्कृतनिष्ठ होती है। परन्तु वहीं जब हम इस्लाम धर्म के लोगों के संपर्क में जाते हैं तो उनकी भाषा उर्दू, फारसी के अधिक निकट ठहरती है। दोनों ही समुदायों

की भाषा तो हिंदी ही है किन्तु एक में संस्कृत के शब्दों की तो दूसरे में उर्दू व फारसी के शब्दों की बहुलता रहती है। अर्थात् यहाँ धर्म के आधार पर शैलीगत भिन्नता दिखायी देती है। इसी तरह इसाई, जैन, बौद्ध धर्म को मानने वाले लोगों की भाषा में प्रयुक्त धार्मिक शब्दों के आधार पर भाषा-भेद को समझा जा सकता है। धार्मिक क्षेत्र से जुड़े लोग जैसे- पंडा, पुजारी, संत, मौलवी, धर्मगुरु आदि की भाषा प्राचीन होती है। इनकी भाषा प्रायः औपचारिक और प्रवचनमयी शैली की होती है। उदाहरण- 'खुदा खैर करें', 'ईश्वर के घर देर है पर अंधेर नहीं है' आदि।

* *लिंग:* भाषाई विषमता का एक प्रमुख आधार लिंग है। एक ही वर्ग, जाति, परिवार व धर्म एवं समुदाय का होने के बावजूद भी लिंग के आधार पर भाषाई भिन्नता हम आसानी से देख सकते हैं। खासकर रंगों के विवरण में पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं की नज़र काफी बारीक होती है। साथ ही वे इनका विवरण देने हेतु विभिन्न प्रकार के रूपकों का भी बखूबी इस्तेमाल करती हैं। जैसे- टमाटरी लाल, कत्थई भूरा, आसमानी नीला, अंग्रेजी में cherry red, sea green, ocean blue, off white, beige, peach colour आदि। इतना ही नहीं महिलाओं की भाषा में विशेषणों तथा मुहावरों का प्रयोग अधिक रहता है। वाक्यों के पीछे 'री' का प्रयोग और संलग्न सवाल जैसे- तुम जाओगी न? आदि का अधिकाधिक प्रयोग महिलाओं की भाषा की विशेषता है। महिलाओं की भाषा में वर्जित शब्दों का प्रयोग नहीं मिलता है। भाषा पर पितृसत्तात्मक समाज का प्रभाव भी प्रत्यक्षतः देख सकते हैं। जैसे महिलाओं की भाषा में विनम्रता का होना अनिवार्य माना जाता है। विषम परिस्थितियों में भी समाज महिलाओं से कोमल और विनम्र भाषा की चाह रखता है। समाज में प्रचलित टैबू शब्द विशेषकर गालियाँ माता, बहन, बेटी, पत्नी आदि संबंधों से जोड़कर दिये जाते हैं, चाहे गाली देने वाला कोई पुरुष हो अथवा महिला। इतना ही नहीं समाज में प्रचलित ये गालियाँ अधिकतर महिलाओं के शारीरिक अंगों से संबंधित हैं। यह भी देखा गया है कि छोटानागपुर अंचल की भाषा में स्त्री और पुरुष दोनों अलग-अलग क्रिया रूपों का प्रयोग करते हैं।

* *आयु:* आयु के आधार पर भी भाषाई भिन्नता दिखायी देती है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण हिंदी सर्वनामों का प्रयोग है। जैसे- हिंदी में बड़ों के लिए आदरार्थक शब्द 'आप' का प्रयोग होता है तथा अपने हमउम्र और छोटों के लिए 'तू' या 'तुम' का प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त बच्चों और बड़ों की भाषा में अन्य भाषाओं के शब्दों का प्रयोग अधिकाधिक होता है। वे द्विभाषी या बहुभाषी

भी होते हैं। बुजुर्ग आम तौर पर अपनी मातृभाषा से लगाव रखते हैं। व्यक्ति की आयु बढ़ने के साथ श्रवण शक्ति और उच्चारण कौशल दोनों ही बाधित होने लगते हैं। इसीलिए बुजुर्गों द्वारा शब्दों के उच्चारण में भी विविधता दिखायी देती है। मांसपेशियों के सिकुड़ने, दाँतों के टूटने अथवा मसूड़ों के ढीलेपन के कारण बुजुर्गों की उच्चारण की क्षमता क्षीण होने लगती है।

* *औपचारिक तथा अनौपचारिक स्थिति:* औपचारिक स्थिति में संप्रेषण अत्यंत औपचारिक होती है। ऐसी स्थिति में प्रयुक्त भाषा में व्याकरणिक अशुद्धियाँ लगभग नहीं होती हैं। परन्तु अनौपचारिक स्थिति में प्रयुक्त भाषा में ऐसा नहीं होता है। उसमें घनिष्ठता और आत्मीयता का भाव अधिक होता है। अर्थात् जिस भाषिक शैली में हम अपने दोस्तों से बातचीत करते हैं ठीक उसी प्रकार हम अपने से बड़ों से या वरिष्ठ अधिकारियों से बातचीत नहीं करते हैं। खासकर दोस्तों के संदर्भ में 'तू', 'अबे', 'यार' या फिर गालियों से बातचीत प्रारंभ होती है। परन्तु औपचारिक स्थिति में 'कृपया', 'जी', आदि शब्दों के प्रयोग के कारण भाषा आदरार्थक और अनुरोधपरक होती है।

* *व्यवसाय:* भारतीय समाज में सामाजिक स्तर-भेद का एक आधार व्यवसाय भी है। यह देखा जाता है कि जो व्यक्ति जिस पेशे से जुड़ा होता है उसकी भाषा में उस व्यवसाय या पेशे से संबंधित शब्दावलियों का व्यवहार सहज रूप से होने लगता है। ऐसे शब्दों के लिए समाजभाषाविज्ञान में 'प्रयुक्ति' की संकल्पना मौजूद है। जैसे: वकील, खिलाड़ी, कपड़े का दुकानदार, डाक्टर, इंजीनियर आदि पेशों से जुड़े लोगों की भाषा में विशेष शब्दावली स्वतः प्रयुक्त होने लगती है। इस तरह से पेशे के प्रभावस्वरूप भी भाषाई वैविध्य सहज दृष्टव्य है। अतः किसी व्यक्ति से संप्रेषण के जरिये भाषा में प्रयुक्त शब्दवली के आधार पर उसके पेशे को भी जानना संभव है। इसके अतिरिक्त समाज में पेशे को भी स्तरीकृत किया गया है। पेशे में भी उच्च पद एवं निम्न पद का विभाजन होता है जिसके आधार पर उच्च पद के लिए आदरार्थक शब्दों एवं बहुवचन का प्रयोग होता है जैसे- 'वे कल आयेंगे', 'आज की कक्षा में मैडम इस विषय पर चर्चा करेंगी' आदि। जबकि निम्न पद के लोगों के लिए एकवचन का प्रयोग होता है। जैसे-'चपरासी कब आएगा।' किसी रिक्शा चालक अथवा बस चालक के लिए 'भईया रोको', 'भईया कितना लोगे' जैसे वाक्यांशों का प्रयोग होता है। इसका यह अर्थ कदाचित नहीं लेना चाहिए कि ऐसे वाक्यों का प्रयोग केवल बुजुर्ग करते हैं। समाज के लगभग सभी लोग इसी तरह के वाक्यों का प्रयोग करते हैं। कारण कि समाज में रिक्शा, बस, ठेला चलाना, सफाई करना आदि पेशे

को निम्न स्तर का माना जाता है। अतः इससे जुड़े लोगों की उम्र अधिक होने के बावजूद आदरसूचक शब्दों या वाक्यों का प्रयोग आमतौर पर नहीं के बराबर होता है।

कुलमिलाकर देखा जाए तो व्यक्ति की सामाजिक-आर्थिक प्रस्थिति, धर्म, पेशा, शिक्षा, आयु, लिंग आदि का भाषा पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। वर्ग-भेद के आधार पर भिन्न शब्दावली, उच्चारण आदि के स्तर पर भाषिक वैविध्य के अनेक उदाहरण मौजूद हैं। इसीलिए गम्पर्ज़ यह स्पष्ट रूप से कहते हैं कि "भाषाई विविधता सामाजिक वर्गीकरण से स्पष्ट होती है न कि भौगोलिक वर्गीकरण से; क्योंकि गाँव के भिन्न खण्डों में रहने वाले एक जाति के लोग एक ही भाषा बोलते पाये गये हैं।"[6] दरअसल, भाषिक विविधता का एक प्रमुख कारण स्थानीयता है। किसी स्थान अथवा समाज विशेष की संस्कृति का भाषा पर गहरा प्रभाव पड़ता है। यद्यपि सांस्कृतिक विविधता भाषा की संरचना को नियंत्रित नहीं करती बल्कि भाषा-प्रयोग को प्रभावित और विनियमित करती है। भाषा और संस्कृति के इस घनिष्ठ संबंध का अध्ययन करके एडवर्ड सपीर तथा बेंजामिन ली वोर्फ ने अपना विचार प्रस्तुत किया। सपीर भाषा को सामाजिक सत्य की निर्देशिका मानते हैं। वे किसी भी भाषा-भाषी समाज की संस्कृति एवं उसके मनोविज्ञान को भाषा से संबद्ध मानते हैं। भाषा को लेकर उनकी दृष्टि समग्रतावादी है। वे भाषा की आतंरिक संरचना, समाज-सापेक्षित रूप तथा साहित्यिक सर्जनात्मकता आदि को रेखांकित करते हुए भाषा के सामाजिक-सांस्कृतिक सौंदर्य के पहलुओं को उद्घाटित करते हैं। उनका कहना है कि भाषा और संस्कृति का ज्ञान एक-दूसरे के अभाव में संभव नहीं है। सपीर के शिष्य वोर्फ भाषा और संस्कृति के संबंध को निर्धारक की भूमिका में देखते हैं। उनका मानना है कि भाषिक संरचना के बल पर भाषा-प्रयोक्ता की विश्व-दृष्टि निर्धारित नहीं होती है। उसके लिए समाज और संस्कृति का बोध होना भी आवश्यक होता है। भाषा और संस्कृति के संबंध को लेकर डेल हाइम्स का मत उल्लेखनीय है। हाइम्स ने "भाषा को स्थितिपरक तो माना पर यह भी जोड़ा कि भाषा के साथ कई परंपरागत घटक आबद्ध होते हैं इसीलिए भाषा में कई उक्तियाँ (utterences) ऐसी होती हैं जो सांस्कृतिक संदर्भ में ही अपना अर्थ दे पाती हैं। भिन्न भाषाओं का सांस्कृतिक संदर्भ भी भिन्न होता है। हाइम्स ने यहाँ तक कहा कि भाषा अधिगम का तात्पर्य प्रयोग करना सीखना (learning to use) तक सीमित नहीं होता, प्रयोग करके संस्कृति को जानना (using to learn it) भी होता है।"[7] हाइम्स किसी समाज में प्रचलित धर्म, साहित्य, दर्शन आदि की भाषा को उस समाज की संस्कृति का वाहक मानते हैं। भाषाई समाज में प्रचलित सर्वनाम, नामकरण की शब्दावली, अभिवादन तथा संबोधन की शब्दावली, रिश्ते-नाते की शब्दावली, रंगों-सख्याओं की शब्दावली, गीत, लोकोक्ति, मुहावरे आदि सभी

सांस्कृतिक विशिष्टता को द्योतित करते हैं। जैसे नामकरण के लिए ऐसे शब्दों का चयन किया जाता है जो सकारात्मक तथा अच्छे भावों की प्रतीति कराते हैं। भारतीय संदर्भ में प्रमुख रूप से सूरज, राम, सीता, कृष्ण, मीरा जैसे पौराणिक या मिथकीय चरित्रों के नामों का अनुकरण किया जाता है। ये सभी पात्र कथावस्तु में अच्छे चारित्रिक गुणों से विभूषित हैं और समाज में आदर्शवान माने जाते हैं। आज तक किसी बालक का नामकरण रावण, कंश, शकुनी, सूर्पणखा आदि नहीं किया गया है क्योंकि ये मिथकीय चरित्र दुष्प्रवृत्तियों का वहन करते हैं।

जब बात भाषा के सामाजिक और सांस्कृतिक पक्ष की हो रही है तो ऐसे में सपीर, वोर्फ, हाइम्स के साथ-साथ ब्लूमफील्ड की धारणा को जानना-समझना आवश्यक है। सपीर, वोर्फ आदि की तरह भाषा के व्यवहारवादी पक्ष का अध्ययन करने वाले भाषाविद् ब्लूमफील्ड हैं। इन्होंने भाषा को किसी उद्दीपक से प्रेरित भाषिक व्यवहार अथवा अनुक्रिया माना है। इनके अनुसार भाषा का आधार वस्तुतः मानसिक है। यह किसी भी भाषाई समाज के मानव के संचित अनुभवों का संश्लिष्ट रूप मानते हैं जिसकी अभिव्यक्ति ध्वनियों के माध्यम से होती है। ग़ौरतलब है कि ब्लूमफील्ड ने भाषा के व्यावहारिक पक्ष का अध्ययन तो किया किन्तु भाषिक संरचना के अध्ययन के लिए जिस भाषाई व्यवहार की बात की है वह भाषा और समाज के अंतःसंबंध को रूपायित करने वाले भाषिक व्यवहार से अलग है। उनके 'भाषाई समाज' की संकल्पना भाषा और समाज के अंतर्विषयक अध्ययन में सहायक है।

बहरहाल, उपर्युक्त सभी विवेचनों के आधार पर सारांशतः यह कहा जा सकता है कि भाषा एक सामाजिक अभिव्यक्ति की इकाई है। मनुष्य अपने परिवेश से भाषा सीखकर परिवेश में ही उसका उपयोग करता है। भाषा और समाज के आत्मीय संबंधों के विषय में डॉ० रामविलास शर्मा का कहना है कि "भाषाओं में परिवर्तन और विकास के कारणों का पता व्यक्ति के रूचिभेद के अध्ययन से नहीं लग सकता। उसके कारण सामाजिक होते हैं और सामाजिक विकास के अध्ययन से ही उसका पता लगेगा। कहा जाता है कि भाषा के परिवर्तन और विकास के अपने नियम हैं। ये नियम समाज-निरपेक्ष नहीं हैं। कौन-सी ध्वनियाँ कहाँ से, किस तरह के प्रयत्न से निकलती हैं, यह शरीर-विज्ञान का विषय है। भाषा की भाव-प्रकृति का संबंध मनुष्य की चिंतन-प्रक्रिया से है, इसलिए वह दर्शन या मनोविज्ञान का विषय है। इसी प्रकार अर्थ-विचार आदि विषय भी विशुद्ध भाषाविज्ञान के विषय नहीं हैं। तात्पर्य यह नहीं है कि भाषाविज्ञान नाम का अलग विज्ञान नहीं है या नहीं हो सकता। ज़ोर इस बात पर देना है कि भाषा के विभिन्न तत्वों का अध्ययन सामाजिक विज्ञान के संदर्भ में ही

हो सकता है।"[8] अतः भाषा के जरिये हम किसी भी समाज की संस्कृति को बेहतर तरीके से जान-समझ सकते हैं। वस्तुतः भाषा और समाज के सह-संबंध के कई आयाम हैं। किसी भी समाज में व्यवहृत भाषा की वास्तविक प्रकृति को समझने के लिए भाषा के व्यवहार पक्ष को जानना सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। विचार-विनिमय हेतु अलग-अलग सामाजिक संदर्भों में कैसे भाषा का वैविध्यपूर्ण रूप उभरकर सामने आता है इस बात की जानकारी के बिना हम न किसी समाज के मूल्यों को जान सकते हैं और न ही हमें भाषिक विशिष्टता का बोध होगा। भाषा-व्यवहार में भाषिक-विविधता का प्रमुख आधार भाषाई विकल्पन है और भाषाई विकल्पन को सम्प्रेषण के माध्यम से बारीकी से समझा जा सकता है। आज 'भाषा भाषा के लिए' के स्थान पर 'भाषा सम्प्रेषण के लिए' सिद्धांत अधिक उपयोगी और तर्कसंगत है। ध्यातव्य है कि भाषा केवल सम्प्रेषण के माध्यम तक सीमित नहीं है अपितु वह स्वयं एक संप्रेष्य या कथ्य भी है। भाषा अपने प्रयोक्ता की सामाजिक पृष्ठभूमि, शिक्षा के स्तर, आर्थिक स्थिति, उसके सांस्कृतिक मूल्यों आदि की जानकारी देता है। अतः भाषा और समाज एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। एक के अभाव में दूसरे का मूल्य निर्धारण असंभव है।

संदर्भ सूची-

1. Peter Trudgill, Sociolinguistics: An Introduction to Language and Society, Page no. 02
2. रवींद्रनाथ श्रीवास्तव, हिंदी भाषा का समाजशास्त्र, पृष्ठ संख्या. 17
3. वही, पृष्ठ संख्या.20
4. मुकेश अग्रवाल, भाषा विज्ञान एवं हिंदी भाषा, पृष्ठ संख्या. 152
5. रवींद्रनाथ श्रीवास्तव, हिंदी भाषा का समाजशास्त्र, पृष्ठ संख्या. 22
6. मुकेश अग्रवाल, भाषा विज्ञान एवं हिंदी भाषा, पृष्ठ संख्या. 161
7. दिलीप सिंह, भाषा का संसार, पृष्ठ संख्या. 42
8. रामविलास शर्मा, भाषा और समाज, पृष्ठ संख्या. 408

1.2 समाजभाषाविज्ञान का स्वरूप एवं परिभाषाएँ

प्रत्येक समाज में भाषा-व्यवहार के भिन्न प्रतिमान होते हैं। ये भाषाई प्रतिमान सतत परिवर्तनशील होते हैं। सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन के कारण भाषा-व्यवहार में भी परिवर्तन आता है। व्यक्ति को किसी शब्द के तकनीकी अथवा पारिभाषिक अर्थ का संज्ञान न होने के बावजूद वह उस शब्द के व्यावहारिक प्रयोग को वह बखूबी जानता है। इतना ही नहीं व्यक्ति सामाजिक परिस्थिति के अनुसार जिन भूमिकाओं का निर्वहन करता है उसी के अनुरूप भाषा का व्यवहार भी करता है। सामाजिक परिप्रेक्ष्य में भाषिक-व्यवहार के इन भिन्न मानदंडों का अध्ययन समाजभाषाविज्ञान का प्रमुख विषय है। समाजभाषाविज्ञान, भाषावैज्ञानिक अध्ययन की अनुप्रयुक्त शाखा है। इसमें समाज के संदर्भ में भाषा में होने वाले व्यवहारगत विविधताओं का अध्ययन होता है। किसी भी समाज की विभिन्न परिस्थितियों में पात्रों द्वारा भिन्न भूमिकाओं में होने वाले व्यवहारजन्य भाषिक-प्रयोग को समाजभाषाविज्ञान के अंतर्गत विश्लेषित किया जाता है। कोई भी समाज भिन्न स्तरों में विभाजित होता है। सामाजिक स्तरीकरण एक ओर भाषिक व्यवहार को विनियमित करता है तो वहीं दूसरी ओर भाषिक व्यवहार से व्यक्ति की सामाजिक स्थिति, उसकी शिक्षा आदि को भी जाना जा सकता है। अर्थात् भाषा समाज के अनुरूप परिवर्तित रूपों में प्रयुक्त होती है और समाज भी भाषा से प्रभावित होता है। इस दृष्टि से भाषा और समाज में अविभाज्य संबंध है। सामाजिक-सांस्कृतिक घटकों के प्रभावस्वरूप किसी भी भाषा में हो रहे परिवर्तन तथा भाषाई विकल्पनों का समाज पर प्रभाव समाजभाषावैज्ञानिक अध्ययन के केंद्रबिंदु हैं।

समाजभाषावैज्ञानिक अध्ययन की शुरुआत मूलतः पश्चिम की देन है। वैसे तो अध्ययन की शाखा के रूप में इसका प्रचलन 19वीं सदी से माना जाता है किन्तु '*समाजभाषाविज्ञान*' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग सन् 1939 ई० में थॉमस सी. हॅडसन ने 'मैन इन इंडिया' में प्रकाशित आलेख "सोशियोलिंग्विस्टिक्स इन इंडिया" में किया। अमेरिकी भाषावैज्ञानिक इयूजेन नीडा ने अपनी पुस्तक 'मॉर्फोलोजी' के द्वितीय संस्करण में 'समाजभाषाविज्ञान' शब्द का प्रयोग कर भाषाविज्ञान के क्षेत्र में इस शब्द की पेशकश की। '*समाजभाषाविज्ञान*' शब्द के पहले पहल प्रयोग को लेकर विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोग इस संदर्भ में हेवर क्यूरी अथवा जे. आर. फर्थ का नाम लेते हैं। बहरहाल, सन् 1960 के दशक से समाजभाषावैज्ञानिक अध्ययन क्षेत्र को एक विस्तृत फलक प्राप्त हुआ। वैसे समाजभाषाविज्ञान के जनक के रूप में अमेरिकी भाषाविद् विलियम लेबॉव का जिक्र मिलता है। इंग्लैण्ड में भाषा, समाज और संस्कृति को एक साथ जोड़कर अध्ययन की परंपरा के रूप में विकसित

करने का श्रेय बेजिल बर्न्सटाइन को दिया जाता है। अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान की इस अध्ययन-शाखा में रूचि रखने वाले अन्य भाषाविदों में डेल हाइम्स, आर.ए.हडसन, नॉम चॉम्स्की, एडवर्ड सपीर, जॉन गम्पर्ज़, फिशमैन, वर्डाह, वोर्फ, पीटर ट्रडगिल, रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, रामविलास शर्मा आदि नाम प्रमुखतः उल्लेखनीय हैं।

समाजभाषाविज्ञान की आधारशिला रखने वाले भाषाविद् विलियम लेबॉव के अनुसार "समाजभाषाविज्ञान, भाषावैज्ञानिक अध्ययन का वह क्षेत्र है जो भाषा और समाज के बीच पाये जाने वाले हर प्रकार के संबंधों का अध्ययन-विश्लेषण करता है। वह भाषा की संरचना और प्रयोग के उन सभी पक्षों और संदर्भों का अध्ययन करता है जिनका संबंध सामाजिक और सांस्कृतिक प्रकार्य से होता है।"[1] समाजभाषावैज्ञानिक अध्ययन पद्धति में विलियम लेबॉव ने ही पहली बार सामाजिक परिप्रेक्ष्य में भाषिक विकल्पन को उद्घाटित किया। इसके लिए उन्होंने अमेरिका के न्यू यॉर्क शहर के डिपार्टमेंटल स्टोर को अध्ययन-क्षेत्र के रूप में चुना। लेबॉव ने दुकानों को सामाजिक स्तरभेद के आधार पर तीन स्तरों में विभक्त करके उसमें 'r' (कंपित ध्वनि 'र') के उच्चारण की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति को विश्लेषित किया। वे अपनी पुस्तक *'Sociolinguistic Pattern'* में कहते हैं कि "If we select the three large department stores, from the top, middle and bottom of the price and fashion scale, we can expect the customers will be socially stratified"[2] दरअसल, भाषिक विकल्पन भौगोलिक और सामाजिक कारणों का परिणाम है। हम देखते हैं कि किसी एक भाषा-भाषी समाज के लोगों का किसी दूसरे भाषाई समाज से संपर्क में आने पर उनकी भाषा प्रभावित होती है। इतना ही नहीं एक सामान्य परिवार में भी पीढ़ी-दर-पीढ़ी भाषाई परिवर्तन को देखा जा सकता है। किसी स्थान विशेष की संस्कृति और परिवेश भाषा को काफी हद तक प्रभावित करता है। उदाहरण के तौर पर हम अंग्रेजी, हिंदी आदि भाषाओं को देख सकते हैं। वस्तुतः भाषा के व्याकरणिक नियमों में कोई परिवर्तन नहीं होता है किन्तु एक ही संदर्भ में एक ही बात को भिन्न तरीके से अभिव्यक्त किया जाता है। इस भाषाई विकल्पन का आधार सामाजिक समूह है। इसीलिए हम अंग्रेजी भाषा के अलग-अलग रूपों में अमेरिकन इंग्लिश, ब्रिटिश इंग्लिश, स्पेनिश इंग्लिश, इंडियन इंग्लिश आदि तथा हिंदी भाषा के संदर्भ में देखें तो दिल्ली, गुजरात, तमिल, अरुणाचल प्रदेश, असम आदि राज्यों में बोली जाने वाली हिंदी के अलग-अलग रूप देखते हैं। लेबॉव कहते हैं कोई भी वक्ता भिन्न संदर्भों में अभिव्यक्ति के दौरान स्वनिमिक और वाक्य-विज्ञान संबंधी नियमों में विकल्पन दर्शाता है। यह विकल्पन उसकी अपनी वाक्-शैली है जो दूसरे से भिन्न होती है। "There is no Single-Style speakers. By this we mean that every

speaker will show some variation in phonological and syntactic rules according to the immediate context in which he is speaking".[3] लेबॉव समाजभाषाविज्ञान के अंतर्गत प्रमुख रूप से भाषा और सामाजिक वर्ग के संबंध, भाषिक विकल्पन की प्रकृति, उसके कारण आदि विषयों की पड़ताल करते हैं।

लेबॉव के विचारों का समर्थन करते हुए ट्रडगिल भाषा को एक परिवर्तनशील इकाई मानते हैं जिसका प्रयोग सभी लोग भिन्न परिस्थितियों में भिन्न तरीके से करते हैं- "A language is not a single code use in the same manner by all people in all situations"[4] अर्थात् भाषाई समाज के सभी प्रयोक्ता एक ही भाषा को अलग-अलग रूपों में बोलते हैं। ऐसे तमाम विकल्पनों के द्वारा भाषाई विशिष्टता और विविधता को विश्लेषित किया जा सकता है। ट्रडगिल ने सामाजिक दृष्टि से भाषा व्यवहार के दो महत्वपूर्ण पक्ष बताए हैं- पहला, भाषा का प्रकार्य है सामाजिक संबंधों को स्थापित करना तथा दूसरा, वक्ता के विषय में जानकारी देना। वे कहते हैं कि 'भाषा केवल मौसम या अन्य विषयों के बारे में सूचनाओं के संप्रेषण का साधन मात्र नहीं है, बल्कि दूसरे लोगों के साथ संबंध स्थापन एवं निर्वहन का महत्वपूर्ण माध्यम भी है।' "Language is not simply a means of communicating information about the weather or any other subject. It is also a very important means of establishing and maintaining relationships with other people."[5] भाषा के प्रयोक्ता को सामाजिक संबंध स्थापन के दौरान समस्त सामाजिक कारकों का ध्यान रखना पड़ता है। जैसे- सामाजिक परिवेश, श्रोता की आयु, वक्ता-श्रोता के बीच का संबंध, औपचारिक-अनौपचारिक स्थिति, संदर्भ, विषय इत्यादि। इसीलिए हम देखते हैं कि भिन्न संदर्भों में कही गयी बातें भिन्न होती हैं। इतना ही नहीं एक ही संदर्भ में अलग-अलग लोग भिन्न वाक्यों का प्रयोग करते हैं। ऐसे में भाषा सामाजिक संबंध स्थापित करने के साथ ही सामाजिक अस्मिता और सामाजिक अर्थ को प्रतिपादित करती है। फिशमैन के शब्दों में कहें तो "Sociolinguistics should encompass everything from considering 'who speaks (or writes), what language (or what language variety) to whom and when and do what end"[6] यानी समाजभाषावैज्ञानिक अध्ययन के दौरान किसी भी बात को *कब, किससे, कहाँ, कैसे और कौन कह रहा है* इस बात पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

पीटर ट्रडगिल समाजभाषाविज्ञान को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि समाजभाषाविज्ञान, भाषाविज्ञान की वह शाखा है जो भाषा को सामाजिक और सांस्कृतिक परिघटना के रूप में विश्लेषित करता

है। "Sociolinguistics, then is that part of linguistics which is concerned with language as a social and cultural phenomenon."[7] प्रसिद्ध भाषाविद् आर. ए. हडसन भी भाषा को सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक संदर्भों से जोड़कर अध्ययन करने के पक्षधर हैं। वे कहते हैं कि 'मैं समाजभाषाविज्ञान को भाषा के समाज संदर्भित अध्ययन के रूप में परिभाषित करता हूँ।' "I define sociolinguistics as the study of language in relation to society."[8] भाषा-व्यवहार के समय भाषा का प्रयोक्ता अपने सामाजिक संबंधों व समाज के विभिन्न स्तरों को ध्यान में रखकर कोई भी वाक्य कहता है। उदाहरण के लिए हिंदी के सर्वनाम 'तू', 'तुम' और 'आप' के प्रयोग को देख कर यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि वक्ता और श्रोता के बीच संबंध की घनिष्ठता अथवा श्रोता के ओहदे, औपचारिकता की स्थिति आदि कैसी है? भाषा-व्यवहार की इसी विशिष्टता को देखते हुए बर्नार्ड स्पोलस्काई कहते हैं कि समाजभाषाविज्ञान भाषा और समाज के बीच संबंध के अध्ययन का वह क्षेत्र है जिसके अंतर्गत भाषा के व्यवहार तथा भाषा-प्रयोक्ता के सामाजिक स्तरीकरण का विश्लेषण होता है। भाषाविद् स्पोलस्काई के शब्दों में "The field that studies the relation between language and society, between the uses of language and the social structures in which the users of language live"[9] किन्तु गम्पर्ज भाषाई व्यवहार और सामाजिक स्तर-भेद के बीच के संबंध का अध्ययन और विश्लेषण करते हुए भाषाई विकल्पनों के अध्ययन पर भी जोर देते हैं। गम्पर्ज का मानना है कि 'समाजभाषाविज्ञान सामाजिक संरचना और भाषिक संरचना के बीच सह-संबंध तलाशने और उनमें होने वाले परिवर्तनों को रेखांकित करने का एक प्रयास है।' "Sociolinguistics is an attempt to find correlations between social structure and linguistic structure and to observe any changes that occurs."[10]

दरअसल, समाजभाषावैज्ञानिक अध्ययन की यह मान्यता है कि किसी भी उच्चरित वाक्य का निर्दिष्ट सामाजिक संदर्भ होता है। और, बिना सामाजिक संदर्भ को समझे उस वाक्य का सटीक विश्लेषण नामुमकिन है। समाजभाषाविज्ञान भाषा के सामाजिक व्यवहार के साथ ही संप्रेषण के नियमों का भी अध्ययन और विश्लेषण करता है। चॉम्स्की द्वारा प्रतिपादित भाषिक दक्षता और भाषिक व्यवहार के बदले समाजभाषाविज्ञान में संप्रेषण दक्षता और व्यवहारगत विविधता पर अधिक बल दिया जाता है। भाषा और संस्कृति के अध्येता डेल हाइम्स सन् 1964 ई० में प्रकाशित अपने लेख *'Towards Enthonography of Communication'* में भाषा और संस्कृति के सिद्धांत को स्थापित करते हुए कहते हैं कि भाषा में संस्कृति की झलक को हम भाषाई

समाज के मनोविज्ञान से जोड़कर देख सकते हैं। अर्थात् कोई भी समाज जिस तरह से अपनी संस्कृति को आत्मसात करता है उसी को वह अपने भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। अतः भाषा-व्यवहार सामाजिक-सांस्कृतिक होने के साथ ही मनोवैज्ञानिक भी होता है। सामान्य संप्रेषण में भी उन्होंने सांस्कृतिक तत्वों की प्रधानता को रेखांकित किया। हाइम्स का यह मानना है कि प्रत्येक भाषाई समाज में संबोधन, अभिवादन, रिश्ते-नाते की शब्दावली, सर्वनाम आदि भिन्न सांस्कृतिक विशिष्टता के वाहक होते हैं जिसकी जड़ें मानव सभ्यता के विकास के साथ जुड़ी हुई हैं। हाइम्स भाषा-अधिगम में भाषा के साथ-साथ संस्कृति के अधिगम पर ज़ोर देते हैं। वे भाषा और संस्कृति के बीच के अविभाज्य संबंध का विश्लेषण करते हुए चॉम्स्की के 'आदर्श वक्ता-प्रवक्ता' की परिकल्पना को ख़ारिज करते हैं। उनका यह मत है कि एक व्यक्ति केवल भाषिक नियमों और शब्दावली के आधार पर ही भाषा व्यवहार नहीं करता अपितु वह संप्रेषण के नियमों और संदर्भों को भी ध्यान में रखता है। हाइम्स के शब्दों में "There are develop patterns of the sequential use of language in conversation, address, standard routines and the like. In such acquisition resides the child's sociolinguistic competence (or, more broadly, communicative competence), its ability to participate in its society as not only a speaking, but also a communicative member."[11] हाइम्स चॉम्स्की की 'भाषिक दक्षता' (languge competence) को अपने 'संप्रेषण दक्षता' (communicative competence) की धारणा के साथ प्रतिस्थापित करते हैं। उनके अनुसार एक बच्चा केवल व्याकरणिक ज्ञान अर्जित नहीं करता बल्कि उचित वाक्यों के ज्ञान के अतिरिक्त स्थान, काल, पात्र, विषय और संदर्भ के अनुकूल वाक्-व्यवहार की दक्षता भी अर्जित करता है। जैसे- स्वयं से ज्येष्ठ व्यक्ति के लिए 'कृपया आप इधर आइए'/ 'क्या मैं आपकी पुस्तक ले सकती हूँ' आदि, वहीं हमउम्र अथवा अपने से कनिष्ठ के लिए 'तुम इधर आओ'/ 'तू उधर जा'/ 'क्या तुम मेरा काम कर दोगे' आदि वाक्यों को संदर्भानुसार देख सकते हैं। यहाँ वाक्य-व्यवहार की विविधता को हम स्पष्टतः देख सकते हैं कि किस प्रकार ज्येष्ठ जन के लिए 'आप' सर्वनाम के प्रयोग के साथ ही वाक्य में आदरार्थक भाव वाले क्रिया रूप का प्रयोग किया गया है जबकि कनिष्ठ व्यक्ति के लिए ऐसा नहीं किया गया है। तात्पर्य यह है कि प्रयोक्ता अपने सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश से यह दक्षता अर्जित करता है कि कब, किससे और कैसे संप्रेषण स्थापित करना है तथा किस संदर्भ में कौन-सी बात कहनी है उसकी सार्थकता का मूल्यांकन करने में वह सक्षम होता है। उदाहरण के लिए 'दरवाजा खुला है' इस वाक्य को देखें तो इसके दो अर्थ संदर्भ हैं। पहला यह कि *दरवाजा खुला* है और अन्दर प्रवेश करने

को कहा जा रहा है तथा दूसरा, *दरवाजा खुला है* आप जा सकते हैं। ऐसे में संप्रेषण के दौरान बच्चे को यह भान हो जाता है कि उपर्युक्त वाक्य का संदर्भित अर्थ क्या है। इस तरह हम देखते हैं कि वाक्-व्यवहार और संदर्भ परस्पर आश्रित होते हैं। एक के बिना अन्य का सटीक अर्थ प्राप्त नहीं हो सकता है। अर्थात् बच्चा वाक्-व्यापार के ऐसे भाषाई-कोश (verbal repertoire) को भी शीघ्र ही सीख लेता है जिसके द्वारा वह संप्रेषण प्रक्रिया में भाग लेने के साथ ही दूसरों द्वारा बोले गये वाक्यों का सही-सही संदर्भित मूल्यांकन कर पाता है। हाइम्स सीधे शब्दों में समाजभाषाविज्ञान को सामाजिक-सांस्कृतिक आयामों के बरअक्स व्याख्यायित करते हुए कहते हैं कि "If linguistics comes to accept fully the sociocultural dimensions, social science the linguistic dimensions, of their subject matters and theoretical bases, "sociolinguistics" will simply identify a mode of research in adjacent sectors of each."[12]

हाइम्स के अलावा रोनाल्ड वर्डाह और भारतीय समाजभाषावैज्ञानिक रवींद्रनाथ श्रीवास्तव समाजभाषावैज्ञानिक अध्ययन में भाषा के सामाजिक, सांस्कृतिक, संप्रेषणमूलक संदर्भ का अध्ययन करते हुए भाषा में होने वाले परिवर्तनों को विश्लेषित करने के पक्षधर हैं। रोनाल्ड वर्डाह के अनुसार "Sociolinguistics is concerned with investigating the relationships between language and society with the goal being better understanding of the structure of language and of how languages function in communication."[13] अर्थात् वर्डाह समाजभाषावैज्ञानिक अध्ययन का मूल ध्येय भाषा और समाज के अन्तःसंबंधों की पड़ताल करते हुए भाषिक संरचना और भाषा के संप्रेषणमूलक प्रकार्य को लेकर गहरी समझ विकसित करना मानते हैं। भाषा को संप्रेषण-व्यवस्था का अन्यतम उदाहरण मानने वाले समाजभाषाविद् रवींद्रनाथ श्रीवास्तव भाषा को मूलतः सामाजिक प्रक्रिया मानते हैं। सामाजिक संदर्भ में भाषाई व्यवहार में होने वाले विकल्पनों को आधार बनाकर भाषा की विषमरूपी प्रकृति पर व्यापक चर्चा करते हैं। रवींद्रनाथ श्रीवास्तव के अनुसार "समाजभाषाविज्ञान, भाषावैज्ञानिक अध्ययन का वह क्षेत्र है जो भाषा और समाज के बीच पाये जाने वाले हर प्रकार के संबंधों का अध्ययन-विश्लेष्ण करता है। वह भाषा की संरचना और प्रयोग के उन सभी पक्षों एवं संदर्भों का अध्ययन करता है, जिनका संबंध सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रकार्य के साथ होता है। अतः इसके अध्ययन क्षेत्र के भीतर विभिन्न सामाजिक वर्गों की भाषिक अस्मिता, भाषा के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण एवं अभिवृत्ति, भाषा की सामाजिक शैलियाँ, बहुभाषिकता का सामाजिक आधार, भाषा-नियोजन आदि भाषा-अध्ययन के वे सभी संदर्भ आ जाते हैं जिनका संबंध सामाजिक संस्थान से होता है।"[14]

इनके समाजभाषिक अध्ययन की धारणा के मूल में विलियम लेबॉव का विकल्पन सिद्धांत है। प्रो. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव भाषा को 'प्रतीक सिद्ध सामाजिक वस्तु' मानते हैं। *भाषा* और *वाक्* को भाषा के ही दो आयामों के रूप में ग्रहण करते हैं, जिसे परस्पर संदर्भ के आधार पर परिभाषित किया जा सकता है। भाषा और वाक् समाज में भाषा के सम्पूर्ण और अखंड रूप को समझने में सहायक हैं। वे सस्यूर के 'भाषा-व्यवस्था' और 'भाषा-व्यवहार' का उल्लेख करते हुए भाषा-व्यवस्था को 'समूहगत अनुबंधन' मानते हैं जो निर्वैक्तिक और समरूपी होता है तो वहीं भाषा-व्यवहार को बहुरूपी अथवा विषमरूपी मानते हुए उसे 'भाषा के अभिव्यक्तिकरण' व वैयक्तिक अथवा व्यष्टि रूप में स्वीकार करते हैं क्योंकि भाषा-व्यवहार अथवा किसी वाक्य विशेष के चयन का आधार संदर्भों के औचित्य, वक्ता, श्रोता/समाज द्वारा वाक्य की स्वीकृति की संभावना और शैलीपरक विशिष्टता का कोडीकृत रूप होता है। मूलतः प्रो. श्रीवास्तव सस्यूर की 'भाषा-व्यवस्था' (लांग) को एककालिक और 'भाषा-व्यवहार' (परोल) को कालक्रमिक मानते हुए दोनों की समाज-सापेक्ष सार्थकता की हिमायत करते हैं।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि भाषा की विषमरूपी प्रकृति का प्रमुख कारण भाषिक विकल्पन है। अतः समाजभाषाविज्ञान सामाजिक संदर्भ में संप्रेषण के दौरान भाषा में होने वाले परिवर्तनों तथा उन परिवर्तनों के प्रमुख घटकों को अध्ययन का विषय मानता है। ऐसे में अध्ययन हेतु भाषाई आधार के रूप में उन वाक्यों अथवा वाक्य समूहों को लिया जाता है जो व्यक्ति द्वारा असावधानी में अथवा न्यूनतम मनोयोग से अत्यंत सहजता के साथ (कैजुअली) बोला गया हो। लेबॉव ऐसी भाषा को 'वर्नाकुलर स्पीच' कहते हैं। प्रो. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव भाषा के विकल्पनयुक्त विषमरूपी प्रकृति के संदर्भ में अपना विचार रखते हैं- "भाषा अपनी प्रकृति में ही विषमरूपी होती है और इसीलिए विकल्पन (variation) और भाषा-भेद (differentiation) उसके अनिवार्य अभिलक्षण हैं। ये स्थितियाँ भाषा की स्वाभाविक प्रकृति के परिणाम हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि भाषा-व्यवस्था के भीतर ही कुछ निर्वैकल्पिक (invariable) और कुछ वैकल्पिक (variable) नियम होते हैं जो आपस में संबद्ध होकर स्तरीकृत समाज की संप्रेषण-व्यवस्था में इस प्रकार ग्रथित होते हैं कि एक के संदर्भ के अभाव में दूसरे को समझना संप्रेषण-व्यापार की समग्र दृष्टि को झुठलाने जैसा लगने लगता है। इन वैकल्पिक नियमों को पहले की विचारधारा ने स्वतंत्र विकल्पन (free variation) कहकर यादृच्छिक घोषित किया था पर इस चिंतनधारा ने उसे व्यक्तियों के सामाजिक आचरण और भाषा के शैली-भेद से जोड़कर न केवल उसे व्यवस्थापरक बताया वरन् भाषा के जीवंत इतिहास को समझने के लिए एक

महत्वपूर्ण उपकरण के रूप में भी देखा।"[15] समाज सापेक्ष भाषिक विकल्पन भाषा के ध्वनि, शब्द, रूप, वाक्य आदि स्तरों पर देखे जा सकते हैं। समाजभाषिक विकल्पन प्रमुखतः दो प्रकार के होते हैं:

* *समाजभौगोलिक विकल्पन:* समाजभौगोलिक विकल्पन के अंतर्गत ऐसे विकल्पनों का उल्लेख होता है जो किसी भाषाई समाज के भौगोलिक स्थानांतरण के बावजूद प्रचलित हों अथवा किसी भाषाई समाज के लोग यदि अपनी मूल भूमि से विस्थापित होकर अन्य भौगोलिक परिवेश के भाषाई विकल्पनों के साथ ही अपनी भाषा के स्थानीय विकल्पनों का प्रयोग करते हों तो वे सभी समाजभौगोलिक विकल्पन कहलाएंगे। जैसे- चाय जनगोष्ठी के लोगों का असम के परिवेश में आकर अपने स्थानीय भाषाई विकल्पनों का प्रयोग करना। उदाहरणस्वरूप- आरकठिया (बिचौलिया), काठाल (कटहल), गामछा (गामोछा[असमिया])/ गमछा), गोतिया (मेहमान), भोजपुरी भाषी चाय श्रमिकों द्वारा: नून/ निमक/ नमक, बेना/ पंखा आदि शब्दों का प्रयोग। असमिया सादरी अर्थात् बागानिया भाषा में असमिया के ('प्रथम स' अर्थात् हिंदी की 'च' ध्वनि) 'চ' (इस 'प्रथम स' का उच्चारण 'स' की तरह होता है) के साथ ही हिंदी की 'च' ध्वनि भी व्यवहृत होती है। जैसे- असमिया शब्द 'चुक्ति' (अर्थ: संधि/ treaty) को असमिया अथवा बागानिया भाषा में *सुक्ति* उच्चारण किया जाएगा। किन्तु असमिया शब्द 'सारि' (अर्थ: चार/ four) *चारि* उच्चरित होता है (उदा० 'चारि कुड़ी बाजना)।

* *विशुद्ध सामाजिक विकल्पन:* इसके अंतर्गत ऐसे विकल्पन शामिल हैं जो किसी निश्चित भाषाई समाज में ही प्रचलित हों। जैसे: 'साक्षरता दिवस मनाया गया/ पालन किया गया (असमिया हिंदी)', ब्रह्मपुत्र घाटी/ ब्रह्मपुत्र उपत्यका (असमिया हिंदी), रामचंद्र धेनुका कइसे ताड़िह' [ताड़िहअ]/ करिह' [करिहअ] (बागानिया भाषा में) आदि।

समाजभाषावैज्ञानिक अध्ययन में विकल्पन को भाषाई परिवर्तन अथवा भाषाई विविधता के आधार पर समझा जाता है। इसके लिए समाजभाषाविज्ञान में चर अथवा वेरिएबल की संकल्पना मौजूद है जिससे भाषाई विकल्पन को विश्लेषित किया जा सकता है। उच्चारण के क्रम में सचेतनता का अभाव, औपचारिकता-अनौपचारिकता की स्थिति अथवा अशिक्षा के कारण भाषाई विकल्पन देखा जाता है। ऐसे वैकल्पिक चर (वेरिएबल) भाषा-व्यवहार (लिखने और बोलने) में सहज दृष्टव्य हैं-

1. [ण] का उच्चारण [ण] अथवा [न] के रूप में करना:

   उदाहरण: ण, न, ~ न, ण (कण ~ कन, बाण ~ बान, घना ~ घणा)

2. [थ़] का उच्चारण [थ़], [थ] अथवा [त्थ] करना:

   उदाहरण: थ़, थ, त्थ, थ़ ~ थ ~ त्थ (थ़िक ~ थिक ~ त्थिक)

3. [र] का उच्चारण [र] अथवा [ड़] तथा [ड़] का उच्चारण [ड़] अथवा [र] करना:

   उदाहरण: र, ~ ड़ (कमरतोड़ ~ कमड़तोड़, कुम्हार ~ कुम्हाड़) और ड़, ~ र (पेड़ ~ पेर, पड़ताल ~ परताल)

4. [र] के स्थान पर [ल] तथा [ल] के स्थान पर [र] प्रयुक्त होना:

   उदाहरण: र ~ ल (दीवार ~ दीवाल) और ल ~ र (काजल ~ काजर, झोला ~ झोरा)

5. [च] का उच्चारण [च], [स] अथवा [श] तथा [स] का उच्चारण [स] अथवा [च] करना:

   उदाहरण: मातृभाषा असमिया के प्रभाववश कुछ लोग च ~ स ~ श (चाचा ~ सासा ~ शाशा, चम्मच ~ सम्स ~ शम्मश, चिंता ~ शिन्ता) तथा स ~ च (सीता ~ चीता, सार ~ चार)

6. [है] के स्थान पर [हैं] तथा [हैं] के स्थान पर [है] का प्रयोग:

   उदाहरण: दुकान बंद है ~ हैं तथा लड़कियाँ खेलती हैं ~ है

7. [श], [ष], [स] में भेद न कर पाना:

   उदाहरण: शतक ~ सतक, शोषण ~ सोषण, विकास ~ विकाश, षोडश ~ शोडस

8. [छ] और [क्ष] का त्रुटिपूर्ण उच्चारण:

   उदाहरण: अक्षय ~ अक्छय, क्षत्रिय ~ छत्रिय

समाजभाषाविज्ञान के अनुसार भाषा की जीवंतता भाषाई क्षमता और व्यवहार के घात-प्रतिघात से मुखर होती है। भाषा-व्यवहार की विषमरूपी प्रकृति का प्रमुख कारण बाह्य जगत के सामाजिक-सांस्कृतिक अनुभव हैं। किसी भी भाषाई समाज के सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य भिन्न होते हैं जिसके आधार पर मनुष्य

भाषा-व्यवहार करता है। अर्थात् समाजभाषाविज्ञान संप्रेषण की स्थितियों को ध्यान में रखकर भाषाई व्यवहार को महत्व देता है। इसीलिए समाजभाषिक अध्ययन को केवल सैद्धांतिक नियमों के आधार पर अंजाम नहीं दिया जा सकता है बल्कि इसके प्रयोगात्मक रूप तथा अनुभवजन्य ज्ञान के आधार पर विश्लेषणात्मक निष्कर्ष तक पहुँचा जा सकता है। समाजभाषाविज्ञान को सूक्ष्म और वृहत् अध्ययन दृष्टि के आधार पर दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। पहला, सूक्ष्म समाजभाषाविज्ञान (Micro Sociolinguistics) के अंतर्गत विभिन्न सामाजिक कारकों यथा- आयु, पेशा, लिंग, क्षेत्र, धर्म, वर्ग, शिक्षा, औपचारिक-अनौपचारिक स्थिति आदि के कारण किसी व्यक्ति के भाषाई व्यवहार में आने वाले परिवर्तनों का अध्ययन होता है। अर्थात् सामाजिक कारकों के भाषा पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन सूक्ष्म समाजभाषावैज्ञानिक दृष्टि की मूल विषयवस्तु है। दूसरा, वृहत् समाजभाषाविज्ञान (Macro Sociolinguistics) में किसी भाषाई समाज में भाषा के अनुरक्षण, भाषा विस्थापन, भाषा द्वैत, भाषा- नियोजन आदि विषयों पर ध्यान दिया जाता है। यानी समाजभाषाविज्ञान के वृहत् संदर्भों में सामाजिक समूह को अध्ययन के केंद्र में रखा जाता है। समाजभाषिक अध्ययन को लेकर बुनियादी स्तर पर विद्वानों में कुछ मतवैभिन्नय है। समाजभाषाविज्ञान के स्वरूप, उसकी प्रकृति, उद्देश्य व विश्लेषण के विभिन्न आयामों को लेकर भी विद्वान मतैक्य नहीं हैं। अतः समाजभाषावैज्ञानिक अध्ययन के लिए तीन तरह के दृष्टिकोणों अथवा आयामों की बात की गयी है-

* *भाषा का समाजशास्त्र:* इस सिद्धांत के प्रवर्तक जे. फिशमैन तथा डेल हाइम्स हैं। भाषा और समाज एक-दूसरे से प्रभावित होते हैं तथा इनमें निरंतर क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है। भाषिक संप्रेषण हेतु कब, किससे, कहाँ, कैसे और क्या बोलना है इसका ज्ञान होना आवश्यक है। इसे सामाजिक परिदृश्य में भाषिक-व्यवहार का अनुशासन कह सकते हैं। समाजभाषाविज्ञान भाषा को सामाजिक संरचना मानते हुए भाषा के सामाजिक प्रकार्य को अध्ययन के विषय के रूप में ग्रहण करता है। यह सामाजिक पद-सूचक का कार्य करता है। इसीलिए भाषा का समाजशास्त्र मानकीकरण, आधुनिकीकरण, भाषा प्रयोग, भाषा-नियोजन जैसे भाषा के नीतिपरक विषयों पर व्यापक अध्ययन करता है।

* *समाजोन्मुख भाषाविज्ञान:* इस सिद्धांत के अनुसार भाषा और समाज में परस्पर घात-प्रतिघात चलता रहता है। इसीलिए इस विचारधारा को घात-प्रतिघातवादी (Interactionist) भी कहा जाता है। सामाजिक विकल्पन और भाषिक विकल्पन दो पृथक धारणाएँ हैं। चूँकि भाषा सामाजिक तत्व है इसीलिए भाषिक विकल्पन सामाजिक विकल्पन पर आधारित होता है। यह दृष्टिकोण भाषा के

सामाजिक संदर्भ पर बल देते हुए उसके भाषिक संदर्भ को नकारता है। समाजभाषाविज्ञान भाषा को सामाजिक संकेत के रूप में परिभाषित करता है और भाषा पर समाज के नियंत्रण को स्वीकरता है। इस विचारधारा के प्रणेता गम्पर्ज़ और चार्ल्स फ़र्ग्युसन हैं।

* *समाज संदर्भित भाषाविज्ञान:* इस दृष्टिकोण के व्याख्याता विलियम लेबॉव हैं। इस सिद्धांत में भाषा व्यवहार के कारण भाषा में आये विकल्पनों का अध्ययन किया जाता है। भाषा और समाज में अभेदात्मक संबंध होता है। इन दोनों की सत्ता को अलग करके नहीं समझा जा सकता है। समाज संदर्भित भाषाविज्ञान भाषा के विकल्पनयुक्त और विषमरूपी प्रकृति को अध्ययन-विश्लेषण का आधार बनाता है। प्रो. रवींद्रनाथ श्रीवास्तव इस संदर्भ में अपना मत रखते हुए कहते हैं कि "भाषा स्वयं एक सामाजिक वस्तु है, अतः उसकी मूल प्रकृति में ही सामाजिक तत्व अंतर्भुक्त होते हैं। ये तत्व ही भाषा को विषमरूपी और विकल्पनयुक्त बनाते हैं।"[16]

यद्यपि, समाजभाषाविज्ञान मूलतः भाषाविज्ञान की ही एक शाखा है जिसमें भाषा का समाज के संदर्भ में होने वाले प्रयोगों का अध्ययन-विश्लेषण किया जाता है। किन्तु समाजभाषिक और भाषावैज्ञानिक अध्ययन-विश्लेषण के सैद्धांतिक नियमों में तुलना करने पर इन दोनों में व्याप्त अंतर को निम्न प्रकार से देखा जा सकता है (रवींद्रनाथ श्रीवास्तव की पुस्तक 'हिंदी भाषा का समाजशास्त्र' से साभार उद्धृत)-

* भाषाविज्ञान भाषा को भाषिक प्रतीकों की संरचना मानता है तथा उसकी आतंरिक व्यवस्था का अध्ययन करता है। जबकि समाजभाषाविज्ञान भाषा को सामाजिक प्रतीकों की संरचना मानकर उसकी सामाजिक प्रकार्यात्मक व्यवस्था का अध्ययन करता है।

* भाषाविज्ञान 'भाषा, भाषा के लिए' सिद्धांत का अनुसरण करता है। परन्तु समाजभाषिक अध्ययन में 'भाषा संप्रेषण के लिए' नियम का प्रतिपादन करता है क्योंकि समाजभाषाविज्ञान संप्रेषण में भाषा-व्यवहार के संदर्भगत नियमों की पड़ताल करता है कि कौन, कब, किससे, किस विषय पर और कैसे बात करता है। इस संदर्भ में भाषिक विकल्पन आधारवस्तु बनते हैं।

* भाषाविज्ञान में वाक्य को भाषा की महत्तम इकाई माना जाता रहा है। किन्तु समाजभाषाविज्ञान प्रोक्ति को महत्तम इकाई मानता है क्योंकि समाजभाषाविज्ञान में कही गयी बात का सही संदर्भ में मूल्यांकन होना अनिवार्य है।

* भाषाविज्ञान में भाषा को वाक्य के स्तर पर एकालाप की तरह अध्ययन किया जाता है जिसमें कथ्य और अभिव्यक्ति के बीच व्याकरणगत संबंधों का विश्लेषण होता है। इसके विपरीत समाजभाषाविज्ञान में भाषा को शाब्दिक घटना (speech event) मानकर संपूर्ण भाषा की संप्रेषणगत व्यवस्था (वार्तालाप) का अध्ययन और विश्लेषण किया जाता है।

* भाषाविज्ञान भाषा के समरूपी पक्ष को प्रधानता देता है तो वहीं समाजभाषाविज्ञान भाषा के विषमरूपी पक्ष पर पूर्णतः बल देता है।

* भाषाविज्ञान में भाषा प्रयोग को नियंत्रित करने वाले तत्व भाषिक ही होते हैं। जबकि समाजभाषाविज्ञान में भाषा प्रयोग को नियंत्रित करने वाले तत्वों की प्रकृति भाषिक न होकर सामाजिक होती है।

* भाषाविज्ञान में भाषिक परिवर्तन भाषा-व्यवस्था के बाहर का विषय है जबकि समाजभाषिक अध्ययन भाषाई परिवर्तन को भाषा-व्यवस्था के आतंरिक विषय के रूप में गिनता है।

* भाषाविज्ञान भाषा-व्यवहार की प्रकृति नियम-आधारित मानता है। इसके विपरीत समाजभाषाविज्ञान भाषा-व्यवहार की प्रकृति को भूमिका पर आधृत मानता है।

सारतः यह कहा जा सकता है कि समाजभाषाविज्ञान भाषा का समाज सापेक्षिक अध्ययन करता है। सामाजिक कारकों के प्रभावस्वरूप भाषा के व्यवहार में होने वाले परिवर्तनों को समाजभाषिक अध्ययन के जरिये विश्लेषित किया जा सकता है। यह भाषा को सामाजिक तत्व मानते हुए संप्रेषण में वैकल्पिक वाक् चयन की पड़ताल करता है और वाक् के सटीक समाज संदर्भित अर्थ को सूचित करता है। यद्यपि समाजभाषाविज्ञान, भाषाविज्ञान की एक प्रमुख शाखा है किन्तु यह भाषाविज्ञान की भाँति भाषा की प्रतीकात्मक संरचना को विश्लेषित न करके उसके व्यवहारगत, वैयक्तिक और विषमरूपी प्रकृति के अध्ययन-विश्लेषण को अधिक प्रधानता देता है। इसीलिए गम्पर्ज और फिशमैन का हवाला देते हुए रामविलास शर्मा ने यह घोषित किया कि "जब सामान्यतः भाषाविज्ञान यह स्वीकार कर लेगा कि सामाजिक संदर्भों के बिना भाषा का विश्लेषण संभव नहीं है, तब भाषाविज्ञान शब्द से ही काम चल जाएगा, लिंग्विस्टिक्स में अलग से सोशियो जोड़ने की आवश्यकता नहीं होगी।"[17]

संदर्भ सूची-

1. दिलीप सिंह, भाषा का संसार, पृष्ठ संख्या. 37
2. William Lebov, Sociolinguistics Pattern, Page no. 45
3. (Ed.) Christian Bratt Paulston and G. Richard Tucker, Sociolinguistics: The Essential Readings, Page no. 234
4. Peter Trudgill, Sociolinguistics: An Introduction to Language and Society, Page no. 21
5. वही, पृष्ठ संख्या. 01
6. (Ed.) Ronald Wardhaugh and Janet M. Fuller, An Introduction to Sociolinguistics, Page no. 17
7. Peter Trudgill, Sociolinguistics: An Introduction to Language and Society, Page no. 21
8. R. A. Hudson, Sociolinguistics, Page no. 01
9. Bernard Spolsky, Sociolinguistics, Page no. 03
10. Ronald Wardhaugh, An Introduction to Sociolinguistics, Page no. 11
11. Dell Hymes, Foundations in sociolinguistics: An Ethnographic Approach, Page no. 75
12. वही, पृष्ठ संख्या. 32
13. Ronald Wardhaugh, An Introduction to Sociolinguistics, Page no. 13
14. रवींद्रनाथ श्रीवास्तव, हिंदी भाषा का समाजशास्त्र, पृष्ठ संख्या. 72
15. वही, पृष्ठ संख्या. 71
16. वही, पृष्ठ संख्या. 82
17. वही, पृष्ठ संख्या. 51

1.3 समाजभाषाविज्ञान की विभिन्न संकल्पनाएँ

भाषा का विकास सामाजिक व्यवहार से जुड़ा होता है। भाषा और समाज में परस्पर सह-संबंध के कारण भाषा का स्थिति, समय, स्थान और संदर्भ के अनुसार प्रयोग होता है। समाज भाषा से जिन भूमिकाओं की अपेक्षा रखता है उसके निर्वहन हेतु भाषा आवश्यक तत्वों व परिवर्तनों से गुजरती हुई स्वयं को योग्य बनाती है। इस दौरान भाषा के अनेक प्रकार्यात्मक संदर्भ उभरकर आते हैं जिसके आधार पर प्रत्येक भाषाई समाज की सांस्कृतिक अस्मिता और विशिष्टता को बखूबी जाना जा सकता है। इसीलिए भाषा के समाज संदर्भित अध्ययन हेतु समाजभाषाविज्ञान विभिन्न संकल्पनाएँ प्रस्तुत करता है। इनमें कुछ प्रमुख दृष्टव्य हैं-

* *कोड-मिश्रण (Code Mixing)*

व्यक्ति भाषा का व्यवहार स्थिति, संदर्भ और श्रोता के सापेक्ष करता है। उसकी अभिव्यक्ति एक कोड के माध्यम से होती है जो वक्ता और श्रोता दोनों के बीच संप्रेषण की अर्थ-प्रणाली को सुदृढ़ करता है। वक्ता और श्रोता का एकभाषी, द्विभाषी अथवा बहुभाषी होना कोड मिश्रण तथा कोड अंतरण की स्थिति को उत्पन्न करता है। दरअसल, कोड मिश्रण वह भाषिक स्थिति है जिसमें किसी एक बोली अथवा भाषा की वाक्य संरचना के अंतर्गत दूसरी भाषा अथवा बोली के शब्दों का प्रयोग किया जाता है। कोई व्यक्ति जब अपनी मातृभाषा के अलावा अन्य भाषाओं का भी ज्ञान रखता है तो वह बातचीत के दौरान सायास अथवा अनायास दूसरी भाषा के शब्दों का प्रयोग अपनी भाषा में करने लगता है। अर्थात् वह अपनी मातृभाषा अथवा किसी अन्य मूल भाषा जिसमें संप्रेषण कर रहा हो उसमें किसी दूसरी भाषा या बोली के शब्दों जैसे- संज्ञा, विशेषण, क्रिया आदि का प्रयोग करता है तो वह भाषिक स्थिति कोड-मिश्रण के अंतर्गत आती है। सन् 1976 ई० में कोड मिश्रण को काचरू, हॉच तथा ओक्सर ने स्वतंत्र रूप से परिभाषित किया। इसके अलावा गम्पर्ज़ ने भी इस संदर्भ में अपना मंतव्य दिया। काचरू, हॉच तथा ओक्सर ने कोड मिश्रण की परिभाषा देते हुए कहा कि "कोड मिश्रण एक भाषा की भाषाई इकाइयों का दूसरी भाषा के सामान्य व्याकरणिक नियमों में स्थानांतरण है। इस प्रकार के नियमित स्थानांतर से भाषा संपर्क के लिए एक नये कोड का जन्म होता है।"[1] काचरू कोड मिश्रण से जन्मे नये भाषाई कोड को भाषा संपर्क का संकुचित या कम संकुचित कोड मानते हैं। गम्पर्ज़ कोड मिश्रण और कोड परिवर्तन में परस्पर भेद को अस्वीकार करते हैं तो वहीं समाजभाषाविद् स्कॉटन ने कोड मिश्रण को *आंतरवाक्यीय कोड परिवर्तन (Intra-sentential Code Switching)* कहा है। कोड मिश्रण की स्थिति को रोनाल्ड वर्डाह अपने

शब्दों में कुछ इस प्रकार लिखते हैं "Code-mixing occurs when conversants use both languages together to the extent that they change from one language to the other in the course of a single utterance."[2] अर्थात् 'कोड मिश्रण की स्थिति वहाँ उत्पन्न होती है जब संलापक दो भाषाओं का प्रयोग एक साथ इस हद तक करता है कि एकल वाक्य उच्चारण में वह एक भाषा से दूसरी भाषा में परिवर्तन करता रहता है।' कोड मिश्रण में बोधगम्यता के लिए वक्ता और श्रोता को दोनों भाषाओं का ज्ञान होना अनिवार्य है। कोड मिश्रण के कुछ नियम सुनिश्चित हैं। इन नियमों की अवहेलना से व्यक्ति की भाषा हास्यास्पद बन सकती है।

ध्यातव्य है कि कोड-मिश्रण की स्थिति में एक भाषा अथवा बोली के पदबंध, उपवाक्य तथा वाक्य में किसी अन्य भाषा अथवा बोली की भाषिक इकाइयों का मिश्रण होता है। इस दृष्टि से देखा जाए तो आन्तःवाक्यीय मिश्रण अर्थात् कोड-मिश्रण की दो मुख्य स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं: पहली, देशीय स्थिति जिसमें कोडगत मिश्रण केवल अपने देश की भाषाओं के साथ होता है। जैसे: हिंदी-असमिया, हिंदी-बांग्ला, सादरी-असमिया, हिंदी-मराठी आदि। दूसरी, विदेशीय स्थिति अर्थात् विदेशी भाषाओं के साथ मिश्रण, मसलन हिंदी-अंग्रेजी, हिंदी-फ्रेंच, असमिया-अंग्रजी आदि। उदाहरण के तौर पर निम्नलिखित वाक्यों को देख सकते हैं-

स्थिति 1 (देशीय स्थिति): 'श्रेणी-कोठा में छात्र-छात्री उपस्थित हैं' (हिंदी-असमिया)

(उक्त वाक्य हिंदी में है किन्तु इसमें असमिया के दो शब्दों का प्रयोग कोड-मिश्रण की स्थिति को दर्शाता है। 'श्रेणी-कोठा' और 'छात्री' असमिया शब्द हैं जिनका अर्थ क्रमशः कक्षा और छात्रा है।)

'सबाइर माजे गोइराम तोके मोरोम लागे जाय' (सादरी-असमिया)

(उक्त वाक्य असम के बागानों में बोली जाने वाली सादरी भाषा में है। इसमें 'मोरोम' शब्द असमिया भाषा का है जिसका अर्थ प्रेम है)

स्थिति 2 (विदेशीय स्थिति): 'मैं मार्केट जा रही हूँ कुछ इम्पोर्टेन्ट काम है।' (हिंदी-अंग्रेजी)

'कोलगाड़ी में चापाइके ले आलो आसाम'/ 'म्यूजिक बजाइके हाल्ला मचाइदे' (सादरी-अंग्रेजी)

कोड-मिश्रण के कुछ प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं-

- शिक्षा के प्रचार-प्रसार के कारण कई बार यह देखा जाता है कि व्यक्ति जिस भाषा में औपचारिक शिक्षा ग्रहण कर रहा होता है उसके व्यवहार में वह दक्ष हो जाता है। इसी कारण बोलचाल के क्रम में उसकी मातृभाषा में उसकी शिक्षण भाषा के शब्दों का मिश्रण होने लगता है।

- आजकल अंग्रेजी भाषा को संभ्रांत वर्ग की भाषा मानकर उसे विशेष सामाजिक प्रतिष्ठा दी जाती है। इसी कारण वक्ता किसी अन्य भाषा में बातचीत करते हुए बीच-बीच में अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग कर गौरव महसूस करता है।

- कुछ लोगों में अनायास ही मिश्रित भाषा में बात करने की आदत होती है। ऐसे में कोड-मिश्रण की स्थिति एक सामान्य भाषिक विविधता-सी प्रतीत होती है।

- कई बार जिस भाषा में संप्रेषण हो रहा होता है उसमें उपयुक्त शब्द मौजूद न होने के कारण संप्रेषण में दूसरी भाषा के शब्द-प्रयोग की आवश्यकता पड़ती है।

- स्थिति के सापेक्ष विषय, समय, संदर्भ और संबंध को ध्यान में रखते हुए कई बार तकनीकी शब्दावली का प्रयोग करने से कोड-मिश्रण की स्थिति उत्पन्न होती है।

- वर्जित शब्दों के लिए विशेष रूप से दूसरी भाषा के शब्दों के प्रयोग की स्थिति देखी जाती है। कारण कि भाषा में कुछ शब्दों का प्रयोग अश्लील माना जाता है। अतः लोकलाज को ध्यान में रखते हुए अपनी बात को समझाने के लिए अन्य भाषा के शब्दों का सहजता से प्रयोग किया जाता है।

भाषा में कोड-मिश्रण की स्थिति को विनियमित करने के लिए कुछ प्रतिबंध निर्धारित किये गये हैं-

1. एक भाषा के बीच में दूसरी भाषा के संबंधपरक उपवाक्य मान्य नहीं होते हैं। यथा: 'वह लड़का, whom you met yesterday, उसने परीक्षा में सर्वाधिक अंक प्राप्त किये।'

2. एक भाषा के प्रथम उपवाक्य के बाद दूसरी भाषा के उपवाक्य का समुच्चय बोधक चिह्न ही स्वीकार्य है। जैसे: 'अच्छे से पढाई करो नहीं तो I will punish you'

3. एक ही भाषा के दो वाक्यों के बीच किसी अन्य भाषा के योजक चिह्नों का प्रयोग वर्जित है। जैसे: 'मुझे भूख लगी थी so मैंने खाना खा लिया'

4. हिंदी भाषा के वाक्यों में अंग्रेजी के निर्धारक, संख्यासूचक अथवा क्रमसूचक शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए। यथा- 'That लड़का बहुत मेधावी है' / 'Nine विद्यार्थी आज अनुपस्थित हैं' आदि।

कुलमिलाकर देखा जाए तो कोड-मिश्रण हेतु वक्ता और श्रोता दोनों को बातचीत के दौरान भाषाई ज्ञान की समान भावभूमि पर होना आवश्यक है। कोड-मिश्रण में व्याकरणिक नियमों को नहीं तोड़ा जा सकता है। जब कभी कोई व्यक्ति उच्च वर्ग के व्यक्ति के साथ बातचीत करता है तो हम अक्सर देखते हैं कि वह अंग्रेजी मिश्रित हिंदी का प्रयोग करता है। कोड-मिश्रण की इस स्थिति में वाक्य-संरचना और व्याकरणिक नियम दोनों ही हिंदी भाषा के मान्य होते हैं।

* *कोड-अंतरण (Code Switching)*

कोड-अंतरण अथवा कोड-परिवर्तन एक ऐसी भाषिक संकल्पना है जिसमें भाषा प्रयोक्ता एक कोड से दूसरे कोड की ओर अंतरण करता है। जब व्यक्ति एकाधिक भाषाओं पर समान अधिकार रखता है तो वह परिस्थिति और संदर्भ के अनुकूल संप्रेषण में भाषाई परिवर्तन करता है। कोड-परिवर्तन में सामाजिक सूचनाएँ अंतर्निहित रहती हैं। इस स्थिति में वक्ता और श्रोता को भाषा का लगभग समान ज्ञान होना आवश्यक है। कृष्ण कुमार गोस्वामी के शब्दों में कोड-परिवर्तन की परिभाषा दृष्टव्य है- "कोड-परिवर्तन एक ऐसा भाषिक रूप है जिससे भाषा की गतिशीलता और समृद्धि का परिचय मिलता है। इसका प्रयोग स्वच्छंदता से नहीं किया जाता वरन् स्थिति और संदर्भ में इसका नियंत्रण होता है।"[3] कोड परिवर्तन मूलतः अंतरवाक्यीय परिवर्तन *(Inter-sentential)* की परिघटना है। कोड-मिश्रण में जहाँ एक ओर एक भाषा की संरचना में दूसरी भाषा के शब्दों का प्रयोग होता है वहीं कोड-परिवर्तन में दो भिन्न भाषाओं की व्याकरणिक व्यवस्थाओं का मिश्रण होता है। काचरू कोड परिवर्तन के संदर्भ में कहते हैं कि "कोड परिवर्तन एक कोड से दूसरे कोड में परिवर्तन को बताता है। कोड परिवर्तन स्थिति सापेक्ष, प्रकार्य सापेक्ष और व्यक्ति सापेक्ष परिवर्तन है।"[4] कई बार ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है जिसमें वक्ता अपनी बात को एक भाषा में कहने में असहज महसूस करता है। उस समय वह किसी दूसरी भाषा के सहारे अपनी बात पूरी करता है। कोड-परिवर्तन की स्थिति को हिंदी और अंग्रेजी भाषा के संदर्भ में देख सकते हैं। जैसे: 'मैं कह रही हूँ न काम हो जाएगा, Don't worry, मुझसे जितना संभव होगा मैं करुँगी,

Be Patient. Everything will be fine'। यहाँ यह भी ध्यान रखने योग्य बात है कि कोड-परिवर्तन के अंतर्गत कोड-मिश्रण की स्थिति भी सहज ही देखी जा सकती है।

कोड-परिवर्तन उपवाक्य, वाक्य तथा प्रोक्ति के स्तर पर होता है। प्रसिद्ध समाजभाषाविद् गल 'कोड परिवर्तन को वार्तालाप की ऐसी नीति मानते हैं जिसका प्रयोग समूह-सीमा को स्थापित या अतिक्रमित करने, अंतर्वैयक्तिक संबंधों को उनके अधिकारों और आभारों के साथ निर्मित, विकसित एवं परिवर्तित करने के लिए किया जाता है।' गल के शब्दों में "Codeswitching is a conversational strategy used to eastablish, cross or destroy group boundries; to create, evoke or change interpersonal relations with their rights and obligations."[5] कोड-अंतरण जैसे प्रकार्यात्मक संदर्भ के कई कारण हैं-

- कई बार अपनी बात कहने में असमर्थता की स्थिति में कोड परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है। उपयुक्त शब्दों के अभाव में व्यक्ति दूसरी भाषा के प्रचलित शब्दों को ग्रहण कर लेता है।
- श्रोता के भाषाई ज्ञान की सीमा को ध्यान में रखकर कोड परिवर्तित करना आवश्यक होता है।
- सामाजिक प्रतिष्ठा हेतु कोड परिवर्तन कर लोग अपने आप को शिक्षित तथा आभिजात्य वर्ग से संबंधित दिखाने का प्रयास करते हैं।
- समाज में प्रभुत्वसंपन्न भाषा जैसे अंग्रेजी का अपनी भाषा के साथ प्रयोग करना सहज प्रवृत्ति बन जाती है।
- कुछ विशिष्ट क्रियाओं तथा वर्जित (टैबू) शब्दों के लिए दूसरी भाषा के कोड का प्रयोग किया जाता है।
- अपनी बातों पर अतिरिक्त बल देने अथवा स्पष्ट उत्तर देने के उद्देश्य से भी व्यक्ति कोड को परिवर्तित करता है।

कोड परिवर्तन के तमाम कारणों तथा परिस्थितियों को ध्यान में रखकर इसके कुछ रूपात्मक प्रतिबन्ध भी निर्धारित किये गये हैं जो इस प्रकार हैं-

- कोड-परिवर्तन में किसी एक भाषा के वाक्य के बीच दूसरी भाषा का संबंधपरक उप-वाक्य मान्य नहीं है। जैसे: 'वह लड़का, who's father is a business tycoon, मेरा परम मित्र है'। ऐसे वाक्य कोड-अंतरण की दृष्टि से शुद्ध नहीं माने जाते हैं।

- केवल उसी भाषा के योजक स्वीकार्य किये जाएंगे जिस भाषा में वार्तालाप जारी होगा। जैसे: 'मैं जाना तो चाहती थी but नहीं जा पाई'/ 'लोराटू पोढ़ात इमान दुर्बल that हि एकु बुजी ए नपाय' (असमिया वाक्य) [अर्थ- वह लड़का पढ़ाई में इतना कमजोर है कि वह कुछ समझ ही नहीं पाता है] इस तरह के वाक्य अशुद्ध माने जाते हैं।

- एक भाषा के उपवाक्य के बाद दूसरी भाषा के प्रयोग के अनुसार ही समुच्चयबोधक चिह्नों का प्रयोग अनिवार्य होता है। जैसे- 'मैं स्टेशन पहुँची, but train has left'/ 'This place is so peaceful, हेईकारने मोई इयाते ओलोप हमय थाकिम' (अंग्रेजी-असमिया)।

- किसी एक भाषा के निर्धारक चिह्नों का प्रयोग दूसरी भाषा में वर्जित है। जैसे: अंग्रेजी के क्रमसूचक, संख्यासूचक शब्दों का प्रयोग हिंदी में करना मान्य नहीं है।

कोड-परिवर्तन भाषिक संरचना का ऐसा प्रकार्यात्मक रूप है जो भाषा के प्रतीकात्मक तथा अर्थपरक भावों को प्रकट करने के साथ ही उसके सामाजिक और स्थितिपरक संदर्भों को उद्घाटित करता है। दरअसल, कोड-अंतरण भाषा-शैली को एक नवीन रूप तथा सहजता प्रदान करता है। कोड-अंतरण में द्विभाषिकता व बहुभाषिकता की स्थिति के कारण भाषा में प्रयुक्तियों का संदर्भगत और व्यावहारिक प्रयोग आसान हो जाता है। कोड-अंतरण दो तरीके से होता है। पहला, *स्थितिपरक कोड-अंतरण* जिसमें प्रयोक्ता स्थिति के अनुसार अपनी बात को स्पष्ट तरीके से व्यक्त करने के लिए एक कोड से दूसरे कोड की ओर स्विच अर्थात् बदलाव करता है। यद्यपि यह बदलाव केवल भाषाई स्तर पर ही होता है संदर्भ अथवा विषयवस्तु के स्तर पर नहीं होता। दूसरा, *लक्षणापरक कोड अंतरण* जिसमें भाषाई परिवर्तन के साथ विषय में भी परिवर्तन हो जाता है। किसी भी स्थिति को पुनर्भाषित करने की स्थिति में कोड बदलता रहता है। यह भाषाई परिवर्तन सामाजिक स्थितियों द्वारा संचालित होता है, जैसे औपचारिक से अनौपचारिक, गंभीर-हास्य आदि के अनुरूप भाषा में परिवर्तन होता है। अतः कोड-परिवर्तन को यादृच्छिक भाषाई प्रक्रिया न कहकर व्यवस्थित और संदर्भ-नियंत्रित भाषाई संकल्पना के रूप में स्वीकारना अधिक तर्कसंगत होगा।

* *कोड-बॉरोइंग (Code Borrowing)*

अन्य भाषा या विदेशी भाषा के कुछ ऐसे शब्द जो आधार भाषा की शब्दावली के अन्यतम अंग बन जाते हैं, जिससे उन शब्दों की उत्पत्ति या उनके स्रोत का पता ही नहीं चलता है। ऐसी स्थिति को कोड बॉरोइंग कहते हैं। जैसे- स्कूल, ट्रेन, पेन आदि शब्द अंग्रेजी के हैं तथा नज़र, इश्क, तकलीफ़, नजदीक आदि अरबी-फारसी के शब्द हैं, लेकिन अब ये शब्द हिंदी भाषा में इस तरह से घुल-मिल गये हैं कि लोग इसका प्रयोग हिंदी भाषा की मूल शब्दावली की तरह करने लगे हैं। इसी तरह पुर्तगाली भाषा के कई सारे शब्द हिंदी में प्रचलित हैं जिनके उद्गम स्रोत की तरफ हमारा ध्यान ही नहीं जाता। जैसे- कमरा, आलपीन, गमला आदि। आर. ए. हडसन कोड बॉरोइंग की स्थिति को विश्लेषित करते हुए कहते हैं कि "code-switching and code-mixing involved mixing languages in speech, borrowing involves mixing the systems themselves, because an item is 'borrowed from one language to become part of the other language."[6] दरअसल, कोड बॉरोइंग यानी दूसरी भाषा से शब्दों को बॉरो या उधार लेने के कई कारण हैं जैसे कि बहुभाषिकता की स्थिति, व्यक्ति की अपनी भाषा की शब्दावली में उपयुक्त शब्द का मौजूद न होना, विशेषकर तकनीकि शब्दावली के संदर्भ में अधिकतर भाषाएँ अभी पर्याप्त विकसित नहीं हुई हैं, आदि प्रमुख हैं। इस तरह अनायास ही बिना स्रोत भाषा के ज्ञान के दूसरी भाषा के शब्द सदियों से भाषा में प्रयुक्त होने लगते हैं। लगभग सभी भाषाओं में ऐसे अनेक शब्द हैं जो वास्तव में उस भाषा के मूल शब्द न होकर भी मूल शब्द की भाँति शब्द-भंडार को समृद्ध करते हैं।

* *भाषाद्वैत (Diglossia)*

भाषा कोई निश्चित व्यवस्था नहीं है बल्कि सामाजिक व्यवहार में परिस्थिति के अनुकूल यह बदलती रहती है। यही कारण है कि समाज में एक ही भाषा के एकाधिक रूप प्रचलित होते हैं। चार्ल्स ए. फग्यूर्सन ने सन् 1959 ई० में 'Diglossia' नामक लेख में इस भाषिक स्थिति का विश्लेषण किया। दरअसल, *डायग्लोसिया* अर्थात् भाषाद्वैत की स्थिति में विभिन्न संदर्भों में एक ही भाषा के दो भिन्न रूपों यथा- उच्च कोड एवं निम्न कोड का प्रयोग देखा जाता है। फग्यूर्सन भाषाद्वैत को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि "Diglossia is a relatively stable language situation in which, in addition to the primary dialects of a language (which may include a standard or regional standards) there is a very divergent,

highly codified (often grammatically more complex) superposed variety, the vehicle of a large and respected body of written literature, either of an earlier period or in another speech community, which is learned largely by formal education and is used for most written and formal spoken purposes but is not used by any sector of the community for ordinary conversation."[7] अर्थात् 'भाषाद्वैत अपेक्षतया स्थायी भाषिक स्थिति है जिसमें भाषा की प्रमुख बोलियों के अतिरिक्त (जिनमें एक मानक तथा कई क्षेत्रीय मानक रूप भी सम्मिलित होते हैं) एक विस्तृत, अतिव्यवस्थित (और प्रायः व्याकरण की दृष्टि से जटिल) तथा आरोपित रूप होता है जो उससे पहले के युग या किसी अन्य भाषा समुदाय की विपुल साहित्यिक संपदा का वाहक बने, जिसे व्यक्ति औपचारिक शिक्षा के माध्यम से सीखे, और जो औपचारिक संदर्भों में और अधिकतर लेखन में प्रयुक्त हो, लेकिन समाज में किसी भी जगह सामान्य बातचीत में न व्यवहृत हो।' भाषाद्वैत की स्थिति में भाषा-प्रयोग के जिन दो रूपों को देखा जाता है उसे उच्च कोड (high variety) और निम्न कोड (low variety) कहा गया है। भाषा के इन दोनों ही रूपों की अपनी-अपनी उपयोगिता एवं पहचान है। सामान्यतः जिन सामाजिक स्थितियों एवं संदर्भों में एक रूप का प्रयोग होता है वहाँ दूसरे रूप का प्रयोग नहीं किया जाता है।

भाषाद्वैत की स्थिति की व्याख्या के लिए फग्यूर्सन ने चार भाषा-रूपों का चयन किया। यथा: अरबी भाषा का उच्च तथा निम्न कोड, स्विस जर्मनी भाषा का मानक तथा निम्न रूप, हैती क्रियोल भाषा की फ्रेंच तथा ग्रीक भाषा का उच्च और निम्न कोड प्रमुख है। भारतीय संदर्भ में भाषाद्वैत की स्थिति तीन भाषाओं में सहज रूप से देखी जा सकती है। जैसे: बांग्ला भाषा में साधु भाषा (उच्च कोड) और चलित भाषा (निम्न कोड), तेलुगु भाषा में ग्रंथिका तेलुगु (उच्च कोड) तथा व्यावहारिक तेलुगु (निम्न कोड) और तमिल भाषा के दो रूपों में चेन्तमिल (उच्च कोड) तथा पेच्चू (निम्न कोड) प्रमुख हैं। उदाहरण के लिए बांग्ला भाषा के उच्च कोड व निम्न कोड के वाक्य-प्रयोग को देख सकते हैं-

- साधु भाषा: 'आमि जाच्छि' (मैं चलता/चलती हूँ) / 'बिकाले अदेर गो घरे जेते होबे' (दोपहर में उनके घर जाना पड़ेगा)
- चलित भाषा: 'आमि जाइतासी'/ 'बिकाले ओगो घरे जाइते होइबो' आदि भिन्न रूप प्रचलित हैं।

फग्यूर्सन का यह मानना है कि भाषाद्वैत की स्थिति उन भाषा समुदायों में दिखायी देती है जहाँ शिक्षा का प्रसार हुआ हो। इसीलिए भाषाद्वैत की इन स्थितियों में उच्च कोड का प्रयोग आमतौर पर शिक्षित वर्ग को दर्शाता है। भाषा का यह रूप साहित्य, राजकाज आदि में प्रयुक्त होता है जबकि निम्न कोड का प्रयोग आम जनमानस के बीच सामान्य बोलचाल के लिए होता है। इस भाषिक स्थिति के उत्पन्न होने के तीन प्रमुख कारणों का उल्लेख किया गया है: "(1) इस समुदाय के एक भाषा रूप में इस तरह का साहित्य उपलब्ध होता है, जो पूरे समुदाय के आधारभूत मूल्यों और सांस्कृतिक तत्वों को समेटे रहता है, (2) इस प्रकार के समुदायों की साक्षरता और शिक्षा की उपलब्धता आभिजात्य वर्ग के लिए ही अधिक होती है तथा (3) इस प्रकार के भाषा समुदायों में वर्ग-विभाजन को कड़ाई के साथ देखा जाता है तथा शिष्ट अथवा साहित्यिक भाषा को आम लोगों की भाषा से दूर रखने के सायास प्रयत्न भी किया जाता है।"[8] भाषाद्वैत के स्वरूप एवं स्थिति का अध्ययन-विश्लेषण करते हुए फग्यूर्सन ने इसके नौ प्रकार्यों को रेखांकित किया है, जो निम्न उल्लिखित हैं-

1. *प्रकार्य (Function):* भाषाद्वैत के उच्च कोड और निम्न कोड के प्रयोग का चयन संदर्भगत होता है। सही संदर्भ में सटीक चयन न होने पर वक्ता हास्य का पात्र बन सकता है। दोनों ही कोड के प्रकार्य अलग-अलग हैं तथा इनमें अतिव्यापन की स्थिति नहीं के बराबर है। अतः औपचारिक स्थिति, लेखन कार्य आदि में उच्च कोड का प्रयोग तथा आपसी संप्रेषण हेतु निम्न कोड का प्रयोग होता है।

2. *प्रतिष्ठा (Prestige):* उच्च कोड को सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त है। इसका अधिकाधिक प्रयोग समाज के शिक्षित वर्ग द्वारा प्रतिष्ठा के योग्य संदर्भों में किया जाता है किन्तु निम्न कोड के प्रयोगकर्ताओं में हीनताबोध नजर आती है कि वे सही भाषा नहीं जानते हैं।

3. *साहित्यिक परंपरा (Literary Heritage):* हम देखते हैं कि उच्च कोड में अधिक से अधिक साहित्य रचे जाते हैं। यहाँ तक कि तत्कालीन साहित्य की भाषा में भी पुराने शब्दों का प्रयोग होता है। ऐसे उच्च कोड की भाषा के कारण साहित्य प्रसिद्धि पाता है।

4. *अर्जन (Acquisition):* भाषा-प्रयोक्ता उच्च कोड का अर्जन औपचारिक शिक्षा के माध्यम से करता है जबकि निम्न कोड का अर्जन परिवार और परिवेश की देन है। इस दृष्टि से निम्न कोड ही वास्तविक मातृभाषा है तथा उच्च कोड अध्यारोपित शैली है।

5. *मानकीकरण (Standardization):* वास्तव में उच्च कोड के मानकीकरण का प्रयास किया जाता है तथा निम्न कोड को उच्च कोड का विकृत रूप मानकर किनारे कर दिया जाता है। ऐसी धारणा है कि उच्च कोड ही वास्तविक भाषा है अतः उसके व्याकरण, शब्दकोश आदि के निर्माण पर बल दिया जाता है।

6. *स्थायित्व (Stability):* ऐसी मान्यता है कि भाषाद्वैत की स्थिति अत्यंत अस्थायी, अव्यवस्थित तथा क्षणिक होती है किन्तु ऐसा नहीं होता है। भाषाद्वैत की स्थिति लम्बे समय तक विद्यमान रहती है। जैसे तमिल, बांग्ला आदि भाषाओं में उच्च कोड-निम्न कोड के उदाहरण सदियों से प्रचलित हैं। ध्यातव्य है कि दोनों कोडों में व्याकरणिक व्यवस्था, शब्द-चयन तथा उच्चारण के स्तर पर पार्थक्य को देखें तो ये दोनों कोड कुछ हद तक भिन्न संरचना वाली भाषा की प्रतीति कराते हैं।

7. *व्याकरण (Grammar):* भाषाद्वैत की स्थिति में उच्च कोड की भाषा अधिक जटिलता से व्याकरणिक नियमों से बँधी होती है किन्तु निम्न कोड उच्च कोड की अपेक्षा अधिक सरल और लचीली होती है।

8. *शब्दावली (Lexicon):* साहित्यिक दृष्टि से निम्न कोड की तुलना में उच्च कोड की शब्दावली अधिक परिष्कृत होती है। जहाँ एक ओर निम्न कोड की भाषा में आम बोलचाल की सामान्य शब्दावली अधिक प्रयुक्त होती है वहीं उच्च कोड की भाषा में मानक शब्दों के प्रयोग को प्राथमिकता दी जाती है।

9. *स्वनिमिक रूप (Phonology):* निम्न कोड की तुलना में उच्च कोड में स्वनिमिक परिवर्तन अधिक परिलक्षित होता है। यद्यपि कुछ स्थानों पर भाषा के दोनों कोडों में स्वनिमिक भेद कर पाना आसान नहीं होता।

* *द्विभाषिकता (Bilingualism)*

सामान्यतः कोई भी व्यक्ति जब अपने भावों एवं विचारों को दो भाषाओं में अभिव्यक्त करने में सक्षम हो तो उसे द्विभाषी कहा जा सकता है। यानी दो भाषाओं का विकल्पवत् प्रयोग द्विभाषिकता है। द्विभाषिकता की स्थिति में मातृभाषा के समान योग्यता दूसरी भाषा में भी होनी चाहिए। किन्तु मान्यता यह भी है कि चारों भाषाई कौशलों अर्थात् सुनना, बोलना, पढ़ना और लिखना में से किसी एक कौशल में भी मातृभाषा जैसी

दक्षता रखता हो तो व्यक्ति द्विभाषी कहलाता है। ब्लूमफ़ील्ड के अनुसार "व्यक्ति जब दो भाषाओं का मातृभाषावत् प्रयोग करता है तो वह द्विभाषी होता है।"[9] परन्तु हॉगेन दो भाषाओं के सार्थक प्रयोग को द्विभाषिकता मानते हैं। अर्थात् द्विभाषिकता का तात्पर्य है- दो भाषाओं का मातृभाषावत् ज्ञान और उनमें कुशलतापूर्वक अभिव्यक्ति करने की योग्यता। आज के समाज में व्यक्ति का केवल अपनी मातृभाषा के साथ जुड़कर रहना संभव नहीं है। भारत जैसे बहुभाषी देश में व्यक्ति सामाजिक धरातल पर दूसरी भाषाओं के व्यक्तियों के संपर्क में अवश्य आता है। इस भाषाई संपर्क की स्थिति में वह अपनी मातृभाषा के अलावा दूसरी भाषा का भी ज्ञान प्राप्त करता है इस भाषिक स्थिति को द्विभाषिकता कहा जाता है। उदाहरण के तौर पर 'मुझे यह ड्रेस और इसकी मैचिंग ज्वेलरी खरीदनी है' (हिंदी), 'हामि उवार संगे टाउन जाबो' (असमिया सादरी) इन दोनों ही वाक्यों में 'ड्रेस', 'मैचिंग ज्वेलरी', 'टाउन' शब्द अंग्रेजी के हैं। इन शब्दों के लिए आधार भाषा में मूल शब्द प्रचलित हैं तथापि सामाजिक प्रभाव एवं दूसरी भाषा का ज्ञान होने के कारण यहाँ द्विभाषिकता की स्थिति उत्पन्न हुई है।

द्विभाषिकता की स्थिति सामाजिक उपयोगिता तथा प्रयोग-क्षेत्र के आधार पर अलग-अलग देखी जा सकती है। जैसे बोलियों के साथ दूसरी बोली अथवा भाषा का प्रयोग आदि। इस तरह से द्विभाषिकता को स्थिति सापेक्ष तथा प्रयोक्ता के सापेक्ष में रखकर अध्ययन किया जा सकता है-

- स्थिति सापेक्ष द्विभाषिकता राष्ट्रीय स्तर पर देखी जा सकती है जिसमें भाषा-प्रयोक्ता का द्विभाषी होना अनिवार्य नहीं होता है। जैसे भारत में राजकाज की भाषा हिंदी तथा अंग्रेजी है। किन्तु प्रत्येक भारतीय नागरिक को इन दोनों भाषाओं का ज्ञान नहीं होता है। इसी तरह से यह जरूरी नहीं है कि भाषा-प्रयोक्ता यदि दुभाषिया हो तो राष्ट्र की सामाजिक स्थिति भी द्विभाषी होगी।

- प्रयोक्ता के सापेक्ष में द्विभाषिकता को शिक्षा, सामाजिकता तथा अभिप्रेरणा के स्तर पर देखा जाता है। कई बार व्यक्ति औपचारिक शिक्षण हेतु दूसरी भाषा को अपनाता है, तो वहीं कुछ लोग सामान्य जीवन में संप्रेषण की आवश्यकता के अनुरूप बगैर शिक्षा के ही दूसरी भाषा का ज्ञान अर्जित कर लेते हैं। इसी तरह से व्यक्ति सामाजिकता के स्तर पर व्यक्तिगत अथवा समष्टिगत उद्देश्य की पूर्ति हेतु दूसरी भाषा को ग्रहण कर द्विभाषी बन जाता है। अभिप्रेरणा के स्तर पर कोई भी व्यक्ति उपकरणवादी तथा समग्रतावादी उद्देश्य से अन्य भाषा को सीखता है। इसमें कई बार व्यक्ति अपने व्यवसाय अथवा

आत्मविकास के उद्देश्य से दूसरी भाषा की उपयोगिता को ध्यान में रखकर भाषा सीखता व प्रयोग करता है तो वहीं कुछ लोग दूसरी भाषा की सभ्यता और संस्कृति को जानने-समझने के लिए भाषा सीखते हैं।

* *बहुभाषिकता (Multilingualism)*

किसी व्यक्ति को अपने समाज से इतर संबंध स्थापित करने के लिए अथवा किसी समुदाय की सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को समझने के लिए निजी भाषाई व्यवस्था के दायरे से बाहर निकलकर दूसरी भाषाओं का ज्ञान अर्जित करना पड़ता है। इस तरह से व्यक्ति एकाधिक भाषाओं के प्रयोग में सक्षम हो जाता है। ऐसे में जब कोई व्यक्ति दो से अधिक भाषाओं में कुशलतापूर्वक अभिव्यक्ति करता है तो वह स्थिति बहुभाषिकता कहलाती है। दूसरे शब्दों में कहें तो कोई भी व्यक्ति जब अपनी मातृभाषा के अलावा एकाधिक भाषाओं का ज्ञान रखता है तो वह बहुभाषी कहलाता है। ध्यान रहे कि यह कदाचित आवश्यक नहीं है कि व्यक्ति भाषा के चारों कौशलों में दक्ष हो बल्कि यदि कोई व्यक्ति अपनी मातृभाषा के अलावा एक से अधिक भाषाओं के चारों कौशलों में से किसी एक कौशल में भी दक्ष हो तो वह बहुभाषी है। अर्थात बहुभाषी होने का अर्थ यह भी है कि व्यक्ति अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त किसी दूसरी भाषा के लिखित या उच्चरित दोनों रूपों में से किसी एक रूप को जानता-समझता हो। लेकिन यह जरूरी है कि उसकी भाषाई दक्षता मातृभाषा के समान ही हो। बहुभाषिकता की स्थिति को भारतीय संदर्भ में अधिक स्पष्टता से समझा जा सकता है कारण कि भारत न केवल एक बहुभाषी राष्ट्र है अपितु इसका लगभग हर प्रदेश और समाज बहुभाषी है। बहुभाषिकता की स्थिति समाज और मनुष्य के प्रयोजनार्थ उपजी है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकतानुसार भिन्न भाषाओं का संदर्भगत प्रयोग करता है। कतिपय विद्वान द्विभाषिकता और बहुभाषिकता को एक ही स्थिति के अंतर्गत व्याख्यायित करते हैं। वाइनराइख और मैके के अनुसार दो या दो से अधिक भाषाओं का विकल्पवत् प्रयोग बहुभाषिकता है। मैके भाषा के प्रयोग पर बल देते हुए बहुभाषिकता को वैयक्तिक मानते हैं तथा सामाजिक बहुभाषिकता को वैयक्तिक बहुभाषिकता का समुदाय मानते हैं। किन्तु बहुभाषिकता की प्रकृति व्यक्तिपरक न होकर समुदायपरक होती है। क्योंकि वैयक्तिक बहुभाषिकता की स्थिति में एक भाषा-भाषी समुदाय में रहकर व्यक्ति निजी आवश्यकताओं अथवा ज्ञानवर्द्धन हेतु अन्य भाषाओं का प्रयोग सीखता है। जबकि समुदायपरक बहुभाषिकता के अंतर्गत पारिवारिक व्यवहार, क्षेत्रीय जन-व्यवहार, शिक्षा तथा दैनिक आचरण के संदर्भ में एकाधिक भाषाओं के व्यवहार की स्थिति को देख सकते हैं। इस दृष्टि से बहुभाषिकता के दो प्रकार्य हैं: पहला,

बाह्य प्रकार्य जिसके अंतर्गत भाषाई व्यवहार का क्षेत्र, भाषा-रूप, शैलीगत भाषिक वैविध्य आदि। दूसरा, आंतरिक प्रकार्य जिसमें व्यक्ति का अंतर्मन उसे बहुभाषी बनाने में सहायक होता है। जैसे: स्वप्न की भाषा, मन में किये गये हिसाब-किताब की भाषा, ईश्वरीय प्रार्थना आदि संभवतः मातृभाषा अथवा किसी दूसरी भाषा में हो सकते हैं।

भारतीय परिदृश्य में बहुभाषिकता की स्थिति में भाषाई अंतर्विरोध की स्थिति नहीं के बराबर है। कोई परिवार अपने भाषा-क्षेत्र से विस्थापित होकर किसी दूसरे भाषाई समाज में बसता है तो उस स्थिति में भी वह अपनी मातृभाषा को अनुरक्षित करते हुए अत्यंत सहजता से दूसरी भाषाओं का संदर्भगत प्रयोग करता है। अर्थात् निजी पारिवारिक मूल्यों का निर्वहन करते हुए स्थानीय सामाजिक मूल्यों को भी आत्मसात करता है तथा सामाजिक व्यवहार हेतु स्थानीय अथवा क्षेत्रीय बोली या भाषा का प्रयोग करता है। सामाजिक स्तरीकरण के चलते एकाधिक भाषा प्रयोग में भी उच्च कोड तथा निम्न कोड के भाषाई व्यवहार की स्थिति को देखा जा सकता है। इसके अलावा समाज के शिक्षित तथा उच्चवर्ग द्वारा अंग्रेजी संक्रमित भाषा के प्रयोग से कोड मिश्रण, कोड अंतरण की स्थिति उत्पन्न होती है। यानी किसी भी समाज में बहुभाषिकता की प्रकृति के सटीक विश्लेषण हेतु उस समाज के भाषाई कोश, कोड-मिश्रण, कोड-अंतरण, भाषा-अनुरक्षण तथा प्रयुक्तियों के प्रयोग का आंकलन करना होगा। बहुभाषी व्यक्तियों की क्षमता के आधार पर बहुभाषिकता को निम्न भेदों में विभाजित किया जा सकता है-

- समानाधिकृत बहुभाषिकता: जब दो से अधिक भाषाओं में मातृभाषा के सामान अधिकार हो तो ऐसी स्थिति समानाधिकृत बहुभाषिकता होगी।

- सामासिक बहुभाषिकता: इस स्थिति में किसी एक भाषा में पूर्ण दक्षता होती है किन्तु अन्य भाषाओं का व्यवहार मात्र संप्रेषण तक ही सीमित रहता है। अर्थात् पूर्ण भाषिक प्रयोग की क्षमता अन्य भाषाओं में नहीं होती।

- प्रारंभिक बहुभाषिकता: मातृभाषा के अलावा अन्य भाषाओं का ज्ञान केवल ग्रहण क्षमता तक सीमित होता है तो यह बहुभाषिकता की प्रारंभिक स्थिति होती है।

- पूर्ण बहुभाषिकता: जब कोई व्यक्ति दूसरी भाषा का ज्ञान अर्जित करता है तो उस भाषा के व्यवहार की क्षमता लगातार बढ़ती रहती है। जब भाषिक व्यवहार की क्षमता पूर्णतः विकसित होकर मातृभाषा

के समान हो जाती है यानी शब्द, अर्थ, वाक्य, शैली आदि स्तरों पर मातृभाषा के समान ही दक्षता विकसित हो जाए तो वह पूर्ण बहुभाषिकता कहलाएगी।

* *पिजिन (Pidgin)*

समाजभाषाविज्ञान में पिजिन भाषाओं की आवश्यकता, इसके इतिहास और इस भाषा को बोलने वाले भाषाई समूहों का अध्ययन किया जाता है। दरअसल, पिजिन भाषाओं का जन्म संपर्क की आवश्यकता के अनुरूप होता है। दो अथवा दो से अधिक भाषिक समुदायों में विचार-विनिमय हेतु एक समान धरातल पर नवीन भाषा की उत्पत्ति होती है। इस भाषा में भिन्न भाषाई समुदाय की मातृभाषा के पुट सम्मिश्रित रूप में मौजूद होते हैं जिसका प्रयोग एक निश्चित सीमा के अन्दर किया जाता है। कुछ लोग पिजिन भाषा को अपूर्ण भाषा कहकर नकार देते हैं। मूलतः संपर्क के प्रयोजनार्थ उपजी इस पिजिन भाषा को विद्वानों ने अलग-अलग नामों से अभिहित किया है। कुछ लोग इसे मिश्रित भाषा (Mix Language), संक्षिप्त भाषा (Reduced Language) तो वहीं कुछ लोग अपभ्रष्ट रूप (Corrupt) अथवा न्यूनतम व्याकरण (Minimum Grammar), बाल-भाषा (Baby-talk) कहते हैं। हाइम्स का मानना है कि ये भाषाएँ भाषा संबंधी हमारी समझ के लिए केंद्रीय महत्व रखती हैं और उन अरबों लोगों के जीवन के लिए भी महत्वपूर्ण हैं जिन्हें इनकी उत्पत्ति के कारण समाज के हाशियाकृत वर्ग के रूप में तथा गलत धारणाओं से जोड़ दिया जाता है। दिलचस्प बात यह है कि इससे संबंधित किसी भी तरह की सकारात्मकता को मात्र जिज्ञासा तक सीमित कर दिया जाता है। हाइम्स के शब्दों में "These language are of central importance to our understanding of language, central too in the lives of some millions of people. Because of their origins, however, their association with poorer and darker members of a society, and through perpetuation of misleading stereotypes…most interest, even where positive, has considered them merely curiosities."[10] ध्यातव्य है कि *'पिजिन'* शब्द मूलतः अंग्रेजी शब्द *'Business'* का पर्याय है जो चीनी भाषा में पिजिन उच्चरित होने लगा। अंग्रेज जब व्यापार करने चीन गए उस समय अंग्रेजी भाषा और चीनी भाषा के मिश्रण से संप्रेषण हेतु एक विशेष प्रकार की अंग्रेजी भाषा विकसित हुई जिसे *'बिजनेस इंग्लिश'* कहा जाने लगा। इस भाषा में अंग्रेजी आधार भाषा थी और चीनी प्रभावक भाषा थी। आगे चलकर इस प्रकार दो भाषाई समुदायों में संपर्क हेतु किसी भी आधार भाषा पर प्रभावक भाषा के प्रभावस्वरूप विकसित भाषा को पिजिन नाम से अभिहित किया जाने लगा। भारतीय संदर्भ में देखें तो बम्बइया

हिंदी जो क्रमशः हिंदी और मराठी के मिश्रण से बनी भाषा है, एक पिजिन भाषा है। इसके अलावा रांची के बाजारों में प्रचलित संपर्क भाषा सादरी भी पिजिन भाषा का ही उदाहरण है।

पिजिन एक ऐसी भाषा है जिसका एकाधिक भाषाओं के साथ सम्मिश्रण होने के कारण रूप एवं संरचना के स्तर पर अद्भुत सरलीकरण हो चुका है। वक्ता और श्रोता के बीच संप्रेषण हेतु इस भाषा के शब्द-कोश इतने संक्षिप्त कर दिये जाते हैं कि भाषा-शुद्धता मायने नहीं रखती है और न ही ये पिजिन भाषाएँ वक्ता अथवा श्रोता की मातृभाषा के रूप में सिद्धि प्राप्त करती हैं। अर्थात् पिजिन भाषा की उत्पत्ति का मूल औचित्य बोधगम्यता की दृष्टि से भाषा को आसान और संक्षिप्त बनाना है। पिजिन भाषा को परिभाषित करते हुए धर्मपाल गांधी कहते हैं कि "पिजिन दो भाषाओं के संपर्क से उद्भुत वे भाषाएँ हैं जो दो भाषिक समुदायों में परस्पर विनिमय की आवश्यकता को लेकर उत्पन्न होती हैं। एक ओर भाषाई स्तर पर भिन्न होने के कारण तथा दूसरी ओर विचार-विनिमय की प्रबलतम आवश्यकता के कारण दोनों अपनी-अपनी भाषाओं को व्याकरणिक संरचना की शुद्धता के प्रति दुराग्रह त्याग कर पारस्परिक बोधगम्यता (mutual inteligibility) के लिए जिस भाषा को जन्म देते हैं उसकी संरचना उनकी अपनी मूल भाषाओं की संरचना से कहीं अधिक सरल और संक्षिप्त होती है। भाषा के इसी रूप को ही 'पिजिन' की संज्ञा से अभिहित किया गया है।"[11] उनका यह भी मानना है कि पिजिन भाषा को मिश्रित भाषा नहीं कहा जा सकता है क्योंकि इसमें दो भाषाएँ यांत्रिक रूप से मिश्रित नहीं होतीं, अपितु आधार भाषा में दूसरी भाषा के दबाव से परिवर्तन लक्षित होता है। प्रसिद्ध भाषावैज्ञानिक हॉल की माने तो "आपसी संपर्क में आने वाले समुदाय जब एक-दूसरे की भाषा सीखने या उसमें अभिव्यक्ति क्षमता हासिल करने में असमर्थता महसूस करते हैं तब उन्हें पिजिन रूप की आवश्यकता पड़ती है। पिजिन में दोनों भाषा समुदायों की भाषाओं की भाषिक विशेषताएँ मिली हुई रहती हैं।"[12] पिजिन भाषा में एक भाषा प्रमुख, आधार अथवा ऊर्ध्वमुखी (dominant) भाषा होती है जिसके भाषाई तत्व अधिक मात्रा में मौजूद होते हैं तो वहीं दूसरी भाषा गौण अथवा अधोमुखी (inferior) भाषा होती है जो आमतौर पर कोई सामान्य देशी भाषा होती है। भाषाविद् समारिन ने पिजिन भाषा के कुल चार रूपों को रेखांकित किया है। पहला, *व्यापार भाषा (Trade Language)* जैसे: पूर्वी अफ्रीका में स्वाहिली भाषा, दक्षिण अफ्रीका में हौसा भाषा, भारत में रांची के बाजारों में प्रचलित सादरी भाषा आदि। दूसरा, *संपर्क भाषा (Contact Language)* जैसे: प्राचीन समय में ग्रीक में व्यवहृत 'कोएन' भाषा; तीसरा, *अंतर्राष्ट्रीय भाषा (An International Language)* उदाहरण के लिए वर्तमान की अंग्रेजी भाषा को देख सकते हैं। चौथा, *सहायक भाषा (An Auxiliary Language)* अर्थात्

कृत्रिम भाषा जैसे: यूरोपीय भाषाई तत्वों से बनी एस्परेंतो भाषा, बिजनेस इंग्लिश, मेरीटाइम इंग्लिश आदि। पिजिन भाषा के कुछ सामान्य अभिलक्षण दृष्टव्य हैं-

- पिजिन भाषा का जन्म संप्रेषण की आवश्यकता के कारण होता है अतः इसका व्यवहार सीमित क्षेत्र में ही होता है तथा ये भाषाएँ किसी की मातृभाषा नहीं बन पाती हैं। इसीलिए हम देखते हैं कि पिजिन भाषा के प्रयोक्ताओं की मूल भाषा तो कुछ और ही होती है।
- पिजिन मूलतः व्यावहारिक प्रयोजन तक सीमित होता है जिसके कारण इसमें सांस्कृतिक संस्कार की कमी होती है।
- पिजिन भाषाओं का कोई निश्चित भाषा-समुदाय नहीं होता है। सामाजिक प्रतिष्ठा न मिलने के कारण ये औपचारिक प्रशिक्षण हेतु उपयोगी नहीं होती हैं।
- पिजिन भाषा की संरचना में किसी भी पक्ष का संक्षेपीकरण तथा साधारणीकरण आवश्यकतानुरूप कर दिया जाता है।
- पिजिन भाषाओं में व्याकरणिक नियमों का लोप देख जाता है। जिसमें दो-तीन भाषाओं के व्याकरण का सरलीकृत रूप दृष्टिगोचर होता है।
- पिजिन भाषाएँ पर्यायवाची शब्दों का अध्याहार करती हैं। इसीलिए पिजिन की शब्द-संपदा सीमित होती है।

* *क्रियोल (Creole)*

साहित्यशास्त्र में कहा जाता है कि बिम्ब ही जब रूढ़ हो जाते हैं तो प्रतीक बन जाते हैं। ठीक इसी तरह जब पिजिन कालांतर में किसी समाज विशेष की मातृभाषा के रूप में रूढ़ हो जाए तो उसे क्रियोल कहते हैं। क्रियोल भाषा पिजिन का ही परवर्ती रूप है। अर्थात् कालक्रम में जब कोई भी भाषाई समुदाय अपनी मातृभाषा को छोड़ पिजिन भाषा को ही दो-तीन पीढ़ियों से व्यवहार कर रहा होता है तो ऐसी स्थिति में वह भाषा क्रियोल भाषा कहलाने लगती है। सरल शब्दों में कहें तो जब कोई समुदाय पिजिन भाषा को अपनी मातृभाषा के रूप में स्वीकार कर ले तथा इस भाषा के व्यवहार को व्यापकता दे तो वह क्रियोल भाषा की संज्ञा प्राप्त कर लेती है। क्रियोल भाषा समाज स्वीकृत तथा प्रतिष्ठित भाषा है। क्रियोल भाषा में रूप-रचना तथा वाक्य-रचना का विस्तार

हो जाता है जिसके कारण पिजिन भाषा में जो क्षेत्र-सीमा निर्धारित होती है वह इसमें टूटने लगती है। धर्मपाल गाँधी के अनुसार "यही पिजिन उस समय 'क्रियोल' कहलाने लगती है जब दूसरी पीढ़ी इसे प्रारंभिक व्यवहार से ही मातृभाषा के रूप में स्वीकार कर लेती है और इसके व्यवहार क्षेत्र को व्यापकता देते हुए बहुमुखी बना देती है। इसी आधार पर वह पिजिन से अलग हो जाती है।"[13] क्रियोल भाषा के संदर्भ में होल्म्स का मानना है कि "A creole is a pidgin which has expanded in structure and vocabulary to express the range of meanings and serve the range of functions required of a first language."[14] अर्थात् क्रियोल पिजिन भाषा का ही विस्तृत और स्थायी रूप है जिसमें पिजिन की संरचना और शब्द-संपदा का विस्तार हो जाता है तथा यह मातृभाषा का स्थान प्राप्त कर लेती है। क्रियोल भाषा की सामान्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं-

- प्रत्येक क्रियोल भाषा का आधार पिजिन भाषा ही होती है किन्तु ध्यातव्य है कि पिजनीकरण की प्रक्रिया सीमित साधनों के साथ दूसरी भाषा को सीखने की होती है जबकि क्रियोलीकरण की प्रक्रिया में सीमित साधनों के साथ प्रथम भाषा सीखी जाती है। अर्थात् क्रियोलीकरण पिजिन भाषा के सामान्य भाषा की ओर उन्मुख होने को इंगित करता है।
- इसमें ध्वन्यात्मक विकल्पों को विनियमित कर दिया जाता है।
- क्रियोल भाषा के प्रयोग-क्षेत्र तथा शब्द-भंडार को विस्तार दिया जाता है। भाषा को व्याकरण के नियमों से अनुशासित किया जाता है।
- क्रियोल भाषा मातृभाषा के रूप में प्रतिष्ठित होकर अपने भाषाई समाज की संस्कृति की संवाहिका बन जाती है। उदाहरण के तौर पर बम्बइया हिंदी को देखें तो यह भाषा वस्तुतः पिजिन रूप में जन्मी भाषा है किन्तु अब यह क्रियोल भाषा के रूप में प्रतिष्ठित है। इसी तरह नागामिज, नेफामिज, टोक पिसिन आदि का भी उदाहरण दिया जा सकता है।
- क्रियोल भाषा में औपचारिक प्रशिक्षण प्राप्ति हेतु यथासंभव प्रयास किया जाता है, आदि।

* *मानक भाषा (Standard Language)*

मानक भाषा का तात्पर्य भाषा के परिनिष्ठित रूप से है। आमतौर पर सामान्य भाषा दैनिक व्यवहार में विचार-विनिमय हेतु प्रयुक्त होती है जिसमें किसी भी तरह का व्याकरणिक दबाव नहीं होता, पूरी स्वच्छन्दता होती है। इसमें भाषा प्रयोक्ता के सामाजिक स्तर-भेद, शिक्षा, आयु आदि अनेक कारणों से भाषाई विकल्पन अधिक दिखायी देता है। यद्यपि भाषाई विकल्पन भाषा के व्यावहारिक पक्ष की विशिष्टता होती है जो समाज और परिस्थिति के अनुकूल सतत परिवर्तित होती रहती है। किन्तु ऐसे भाषाई विकल्पन एक निश्चित सीमा तक ही भाषा-सौष्ठव को बढ़ाते हैं। अतः भाषा में व्याकरणिक अनुशासन, एकरूपता तथा स्वायत्तता हेतु कुछ नियमों को सुनिश्चित किया जाता है। समाज के अधिकांशतः शिक्षित वर्ग द्वारा भाषा के रूप का एक निश्चित प्रतिमान स्थापित किया जाना भाषा का मानकीकरण है। प्रो० दिलीप सिंह के शब्दों में "मानक भाषा, भाषा का वह सुव्यवस्थित रूप है जो बृहत् भाषा समुदाय द्वारा स्वीकृत हो, जो भाषा समुदाय के लिए प्रतिष्ठा का विषय हो तथा जो उसके लिए प्रतिमान का काम करे।"[15] *'मानक'* शब्द संस्कृत के 'मान' शब्द के निकट है, जिसका अर्थ है माप, मापदंड अथवा पैमाना। यह अंग्रेजी शब्द *standard* के हिंदी पर्याय के रूप में व्यवहार में आता है। हिंदी में मानक भाषा का अर्थ है – साधु भाषा, टकसाली भाषा, परिनिष्ठित या आदर्श भाषा।

वास्तव में मानक भाषा अपनी अनेक बोलियों का एक रूप होती है लेकिन जब उनकी बोलियों का रूप मानक भाषा कहलाती है तब वह अपनी बोलीगत रूप से निरस्त हो जाती है। वह अपने क्षेत्र विशेष तक ही सीमित नहीं रहती है बल्कि इसका प्रयोग हर क्षेत्र या देश के लोग कर सकते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में, राजकीय कार्य, पत्राचार, साहित्यिक रचनाओं आदि में मानक भाषा का प्रयोग होता है। मानक भाषा के लिए एक निश्चित व्याकरण तथा निश्चित व्याख्या निर्धारित की जाती है तथा इसके अपने नियम होते हैं। साथ ही मानक भाषा का लिखित एवं मौखिक रूप भी होता है। मौखिक रूप पर प्रदेश विशेष का प्रभाव होता है किन्तु लिखित रूप प्रादेशिक प्रभाव से मुक्त होता है। मानक भाषा विभिन्न बोलियों या विभाषाओं की विभिन्नता में एकरूपता या सांस्कृतिक एकता को प्रतिष्ठित करने में नियोजक की भूमिका निभाती है। भोलानाथ तिवारी मानक भाषा को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि "मानक भाषा किसी भाषा के उस रूप को कहते हैं जो उस भाषा के पूरे क्षेत्र में शुद्ध माना जाता है तथा जिसे उस प्रदेश का शिक्षित और शिष्ट समाज अपनी भाषा का आदर्श रूप मानता है और प्रायः सभी औपचारिक परिस्थितियों में, लेखन में, प्रशासन और शिक्षा के माध्यम के रूप में यथासाध्य उसी का प्रयोग करने का प्रयत्न करता है।"[16] वे मानक भाषा को सामाजिक प्रतिष्ठा के प्रतीक के रूप में स्वीकारते

हैं। वे कहते हैं कि "मानक भाषा को इस रूप में भी समझा जा सकता है कि समाज में एक वर्ग होता है जो अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण होता है तथा समाज में उसी का बोलना-लिखना, उसी का खाना-पीना, उसी के रीति-रिवाज़ अनुकरणीय माने जाते हैं। मानक भाषा मूलतः उसी वर्ग की भाषा होती है।"[17] भाषा के मानकीकरण की प्रक्रिया कुछ प्रमुख चरणों से होकर संपन्न होती है। पहला, किसी भी भाषा के विभिन्न प्रादेशिक अथवा सामाजिक रूपों में धर्म, राजनीति, साहित्य आदि के आधार पर *चयन* किया जाता है। दूसरा, भाषा के रूप का चयन होते ही वह भाषा धीरे-धीरे अपने क्षेत्र के बाहर *प्रसार* पाने लगती है तथा सर्वक्षेत्रीय और सर्वव्याप्त हो जाती है। तीसरे चरण में उस भाषा का *प्रयोग* शिक्षा, राजकाज, प्रशासन, साहित्य, मिडिया आदि सभी क्षेत्रों में होने लगता है। मानकीकरण का अंतिम चरण *स्वीकृति* है, इसमें किसी क्षेत्र अथवा समाज विशेष में प्रचलित भाषा-रूप को सामाजिक प्रतिष्ठा मिल जाती है। अर्थात् समाज के शिक्षित लोगों द्वारा स्वीकृति प्राप्त कर वह भाषा, मानक भाषा के रूप में सर्वमान्य हो जाती है। इस दृष्टि से मानक भाषा के कुछ प्रकार्यों का उल्लेख किया जा सकता है-

- किसी क्षेत्र विशेष में मानक भाषा की स्वीकृति के बाद वह भाषा प्रयोक्ताओं को सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टि से एक सूत्र में बाँधने का काम करती है किन्तु इसके विपरीत मानक भाषा के प्रयोक्ताओं के अलावा अन्य भाषा के प्रयोक्ता अलगाव महसूस करते हैं।
- मानकीकरण से भाषा के व्यवहार-क्षेत्र में विस्तार होता है। इससे उस भाषा-क्षेत्र की सभी बोलियों के प्रयोक्ताओं को अभिव्यक्ति हेतु एक सार्वजनिक भाषा मिल जाती है।
- बोली अथवा उपबोली एक निश्चित सीमा तक ही संप्रेषण में सक्रिय होती है किन्तु मानक भाषा अभिव्यक्ति हेतु बहुआयामी दिशा प्रदान करती है जिसे अधिक से अधिक लोग लिख और बोल सकें।
- मानक भाषा के प्रयोक्ताओं को उन लोगों की तुलना में विशेष प्रतिष्ठा और सुविधा प्राप्त होती है जिनकी अपनी कोई मानक भाषा नहीं होती है। अर्थात् किसी बोली अथवा उपबोली के अल्पसंख्यक प्रयोक्ताओं में मानक भाषा का ज्ञान न होने की स्थिति में हीनता की ग्रंथि दिखयी देती है।
- मानक भाषा के रूप को एकरूपता तथा स्थायित्व प्राप्त होता है। लोग इसके भाषिक और व्याकरणिक प्रयोग का शुद्धता से अनुपालन करने लगते हैं।

* *भाषा-अनुरक्षण (Language Maintenance)*

भाषा अनुरक्षण का तात्पर्य उन स्थितियों से है जहाँ सामाजिक, मानसिक दबावों के बावजूद कोई भाषाई समाज अपनी भाषा के स्थान पर किसी भी दूसरी भाषा के प्रयोग को रोकने हेतु संघर्षरत रहता है। ऐसी स्थिति में दोनों भाषाओं के बीच कमोबेश तनावपूर्ण और संघर्षशील वातावरण बना रहता है। कई बार यह देखा जाता है कि अपनी भाषा को अनुरक्षित करने के क्रम में दूसरी भाषा का भी सह-अस्तित्व बरक़रार रहता है। आज के दौर में जिस प्रकार सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन के कारण भाषा प्रभावित हो रही है, ऐसी स्थिति में बहुसांस्कृतिक और बहुभाषिक देशों में विशेषकर भारत के संदर्भ में हम भाषा अनुरक्षण की स्थिति को स्पष्टतः देख सकते हैं। भारत में कोई एक भाषाई समाज अपने मूल स्थान से प्रव्रजित होकर किसी दूसरे स्थान पर निवास करते हुए अपनी मातृभाषा के साथ-साथ दूसरी भाषा को भी तवज्जो देता है। पठन-पाठन, रोजगार अथवा संप्रेषण हेतु दूसरी भाषा का प्रयोग तो वह करता है लेकिन अपने घर-परिवार, संगे-संबंधियों के बीच मातृभाषा का व्यवहार कर वह अपनी भाषा को पीढ़ियों तक अनुरक्षित करता है। भाषा अनुरक्षण के संबंध में पालस्टन यह कहते हैं कि "किस मात्रा तक यह देशी वर्ग द्विभाषी हो पाता है यह इस बात पर निर्भर करता है कि उनके लिए किस सीमा तक अंग्रेजी आजीविका की भाषा बन सकती है और मातृभाषा अनुरक्षण संभवतः इस बात पर निर्भर करता है कि वे किस मात्रा तक एकीकरण का प्रतिरोध कर पाते हैं।"[18] भारतीय समाज में जातीय अलगाव का एक प्रमुख आधार भाषा है। इसलिए भारत के विस्थापित समुदाय के लोग अपनी भाषा का अनुरक्षण करते हुए भिन्न भाषाओं के प्रयोग में सहज होते हैं। मसलन असम राज्य की चाय जनगोष्ठी में ही कुछ ऐसे जातीय अथवा आदिवासी समुदाय के लोग हैं जो विस्थापित होकर असम में आ बसे किन्तु वर्तमान में पाँचवीं-छठी पीढ़ी तक वे अपने घरेलू जीवन में मातृभाषा का प्रयोग कर रहे हैं तथा पठन-पाठन अथवा अन्य प्रयोजनों हेतु प्रमुख रूप से असमिया भाषा का व्यवहार करते हैं। भाषा अनुरक्षण को लेकर पंडित की यह धारणा कि "भारतीय संदर्भ में भाषा अनुरक्षण एक प्रतिमान है"[19] अन्य विस्थापित समुदायों की तरह असम की चाय जनगोष्ठी के उन समूहों के संदर्भ में सटीक साबित होती है जिनमें मातृभाषा और अन्य भाषा का सह-अस्तित्व बना रहता है। कुलमिलाकर यह कहना गलत नहीं होगा कि भाषा-अनुरक्षण की स्थिति में कोई भाषा किसी दूसरी भाषा की अपेक्षा राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से अधिक बलवती होते हुए भी अपने अस्तित्व को बचाए रखने के लिए संघर्ष करती है। अगर कोई भोजपुरी भाषी परिवार अपना मूल स्थान छोड़कर असम में काफी समय से निवास करता है, और वह असम में रहने के बावजूद भी अपनी भाषा को

अपने परिवार और अपने समुदाय में प्रयोग करके अनुरक्षित रखता है तो यह भाषा-अनुरक्षण की स्थिति है। यानी 'विभिन्न सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक दबावों के बावजूद भी अपनी भाषा को बचाए रखने का प्रयास' ही भाषा-अनुरक्षण है। इसमें विस्थापितों द्वारा व्यवहृत भाषा तथा दूसरी भाषा के बीच समाज संदर्भित भाषाई प्रकार्यात्मक भूमिका के निर्वहन हेतु आपसी संघर्ष नहीं होता है।

* *भाषा-विस्थापन (Language Shift)*

भाषा-विस्थापन का अर्थ सीधे शब्दों में, एक भाषा की जगह किसी दूसरी भाषा के प्रयोग को समझना चाहिए। रवींद्रनाथ श्रीवास्तव के अनुसार भाषा-विस्थापन का अर्थ है "एक कोड के स्थान पर दूसरे कोड का प्रयोग।"[20] भाषा-विस्थापन की स्थिति में सामाजीकरण की प्रक्रिया के दौरान विस्थापित समुदाय अपनी भाषा को स्वेच्छा से अथवा मजबूरन त्यागकर किसी अन्य भाषा का प्रयोग करता है। भाषा विस्थापन में विस्थापितों द्वारा किसी अन्य भाषाई समाज के जीवन मूल्यों को अपनाने के प्रति उत्सुकता तथा तत्परता दिखायी देती है। इस स्थिति में कई भाषाएँ दूसरे प्रभुत्वशाली भाषाओं के सम्मुख आत्मसमर्पण कर देती हैं अर्थात् अपनी भाषिक अस्मिता का विलयन उस दूसरी भाषा में कर देती हैं। ग़ौरतलब है कि भाषाओं के प्रति सामाजिक असमानता के भाव के कारण भाषा-अनुरक्षण अथवा भाषा-विस्थापन जैसी स्थिति उत्पन्न होती है। भाषा-विस्थापन में किसी एक भाषा के सम्मुख दूसरी भाषा को शक्ति संपन्न मानकर उसे वरीयता दिया जाता है। वर्तमान समय में सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि भिन्न कारणों से भाषाई वर्चस्व की स्थिति सहज दृष्टव्य है। इसके अंतर्गत हम यह भी देखते हैं कि किसी एक वर्चस्ववादी समुदाय की सामाजिक स्थिति, प्रभुता के प्रति आकर्षित होकर अल्पसंख्यक विस्थापित समुदाय अपनी मातृभाषा को समर्पित कर बलवती भाषाई समाज में शामिल होना चाहता है। ब्लूमफ़ील्ड भाषा विस्थापन को अमेरिका के विस्थापित समुदायों के संदर्भ में व्याख्यायित करते हुए कहते हैं कि "कुछ लोग विदेशी भाषा के लिए अपनी भाषा को पूर्ण रूप से त्याग देते हैं। इस समय वह स्थिति अमरीका के विस्थापितों में देखी जा सकती है- उन्होंने भाषा का विस्थापन किया है: उनके संप्रेषण का एकमात्र माध्यम अंग्रेज़ी है और उनके लिए यह उनकी देशी भाषा न होकर दत्तक भाषा है।"[21] अमेरिका के विस्थापितों में संबंध के यह देखा जाता है कि वृहत्तर अंग्रेजी समाज अपना वर्चस्व और प्रभुत्व कायम करके शासन करना चाहता है। इस भाषा का आजीविका के संसाधनों पर आधिपत्य होता है। इसीलिए अधिशासित समुदाय कई बार भाषाई संघर्ष करता नज़र आता है। संघर्ष की ऐसी स्थिति में मातृभाषा का विस्थापन बहुत ही धीमी गति से होता है। कुछ सीमित संदर्भों में भाषा-व्यवहार में एक कोड के बदले दूसरी

भाषा का कोड प्रयुक्त होता है। इसे आंशिक विस्थापन भी कह सकते हैं। तो वहीं देशी भाषा के पूर्णतः उन्मूलन की स्थिति में दत्तक भाषा मातृभाषा का स्थान ले लेती है और सभी प्रयोगगत संदर्भों में दत्तक भाषा ही व्यवहृत होने लगती है। भाषाई विस्थापन की यह स्थिति पूर्ण भाषा-विस्थापन कहलाती है। इसमें प्रवासी एवं अधिशासी भाषाई समाज का एकीकरण हो जाता है। उदाहरण के तौर पर अमेरिका के विस्थापित समुदाय की पहली पीढ़ी अपनी मातृभाषा को अनुरक्षित करती है किन्तु दूसरी पीढ़ी मातृभाषा के साथ-साथ अंग्रेजी का प्रयोग करती है। लगभग तीसरी-चौथी पीढ़ी तक आते-आते मातृभाषा विस्मृत हो जाती है और उस समाज के लोग अंग्रेजी भाषी समाज के साथ जुड़ जाते हैं। ध्यातव्य है कि भाषा विस्थापन की प्रारंभिक स्थिति में दूसरी तथा कमोबेश तीसरी पीढ़ी मातृभाषा के साथ-साथ गृहीता भाषा का प्रयोग करती है। यह परिस्थिति भाषाई विलयन की ओर अग्रसर हो रही होती है। इसके बाद मातृभाषा केवल दादा-दादी से बातचीत तक सीमित हो जाती है। वृद्धजनों की मृत्यु के पश्चात् मातृभाषा का प्रयोग भी समाप्त ही हो जाता है। इसी तरह से भारत के असम प्रांत में देखा जाए तो यहाँ प्रव्रजित भोजपुरी भाषी, चाय जनगोष्ठी आदि समुदायों में कुछ ऐसे विशेष वर्ग हैं जो वर्तमान में अपनी मातृभाषा को विस्थापित कर असमिया भाषा को पूर्णतः स्वीकार कर चुके हैं तो कुछ लोग आज भी अपनी मातृभाषा का प्रयोग सीमित क्षेत्रों में मौखिक व्यवहार में करते हैं।

* *भाषा-मृत्यु (Language Death)*

भाषा की जीवंतता दैनिक व्यवहार से बनी रहती है। भाषाई संघर्ष में हम कई बार देखते हैं कि एक भाषा पूर्णतया विलुप्त या समाप्त हो जाती है। इसे ही भाषा-मृत्यु कहते हैं। अथवा किसी भाषा के सभी प्रयोक्ताओं की मृत्यु हो जाने से वह भाषा भी मृतप्राय हो जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि वैश्विक संदर्भ में किसी भी भाषा के आखिरी प्रयोक्ता या मूल वक्ता की मृत्यु उस भाषा की मृत्यु का सूचक है। मसलन ऑस्ट्रेलिया के मर्तुठुनिरा भाषा-भाषी अंतिम व्यक्ति की मृत्यु के बाद इस भाषा को मृत घोषित कर दिया गया। इसी तरह से स्कॉच, मैक्स, जार्वा, गोथिक, कॉप्टिक आदि भाषाएँ मृत भाषा हैं। भाषा प्रमुखतः भाषाई वर्चस्ववाद की चपेट में आकर दम तोड़ देती है। इसके अलावा पीढ़ी-दर-पीढ़ी किसी भाषा का धीरे-धीरे प्रयोग समाप्त होना, अचानक किसी भाषा के व्याकरण तथा शब्द-संपदा को बदल दिया जाना अथवा भाषा में किसी अन्य भाषा के अत्यधिक शब्दों को ग्रहण करना आदि अनेक कारणों से भाषा मृत्यु की ओर अग्रसर होने लगती है।

* *भाषा-नियोजन (Language Planning)*

भाषा-नियोजन का तात्पर्य है किसी भी देश अथवा राष्ट्र की भाषा से संबंधित सभी समस्याओं के समाधान हेतु योजनाएँ बनाना तथा उसका यथोचित क्रियान्वयन होना। भाषा-नियोजन में प्रमुख रूप से बहुभाषी समाज हेतु राजभाषा, राष्ट्रभाषा के चयन के साथ ही एकाधिक भाषाओं में होने वाले भाषिक संघर्ष के समाधान, मानकीकरण और आधुनिकीकरण आदि विषयों पर अधिक बल दिया जाता है। भाषा-नियोजन का सर्वप्रथम संकल्पनात्मक प्रयोग सन् 1957 ई० में प्रसिद्ध भाषाविद् वाइनराइख ने कोलंबिया विश्वविद्यालय में आयोजित 'भाषा नियोजन' संगोष्ठी में किया था किन्तु सन् 1979 ई० में इस विषय के सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक पक्ष को विस्तार देने का कार्य भाषाशास्त्री हॉगेन ने किया। प्रो० दिलीप सिंह भाषा-नियोजन के संदर्भ में अपना मंतव्य रखते हुए कहते हैं कि "भाषा नियोजन एक ऐसा क्षेत्र भी है जो राज्य शासन के भीतर प्रयोग में आने वाले कोडों की संरचना और उनके प्रकार्यात्मक निर्धारण दोनों पक्षों को पूरा करने के लिए सरकारी प्रयासों का मार्ग प्रशस्त करता है, रास्ता दिखाता है। हम यह भी कह सकते हैं कि भाषा-नियोजन का मुख्य कार्य किसी समाज के उन क्षेत्रों की पहचान करना भी है जिनमें वह भाषा संसाधनों का प्रयोग करना चाहता है।"[22] भाषा- नियोजन में प्रमुख रूप से तीन बिन्दुओं पर विशेष ध्यान दिया जाता है: पहला, भाषा-संबंधी समस्याओं की पड़ताल करते हुए उसके समाधान हेतु निर्णय लेना। इसके अलावा समस्या की प्रकृति के अनुकूल नीतियों को लागू करना। दूसरा, भाषा-समस्या के समाधान हेतु उद्देश्य केंद्रित नीतियों का निर्धारण करना ताकि भाषा-नियोजन सुनिश्चित हो। तीसरा, भाषा-समस्या के समाधान के लिए एकाधिक उपायों का होना आवश्यक होता है। ताकि समस्या के प्रकार और प्रकृति को ध्यान में रखकर भाषा-नियोजन हेतु विशेष परिस्थितियों में विकल्प मौजूद हों। भाषा-नियोजन की समस्या को उसके समाधान की प्रक्रिया के साथ जोड़ते हुए न्युस्तेपनी ने चार प्रमुख चरण बताये हैं-

1. किसी भी क्षेत्र में एकाधिक भाषाओं के प्रयोग की स्थिति में कोड चयन की समस्या उत्पन्न होती है किन्तु प्रयोग के स्तर पर समान रूप से सक्षम होने के बावजूद उस क्षेत्र में किसी एक भाषा को अन्य की तुलना में अधिक प्रतिष्ठित और विकसित मानकर उसे मानक कोड मान लिया जाता है। ऐसी स्थिति में कोड के चयन की दृष्टि से नीति का निर्धारण किया जाता है। जिस भाषा के माध्यम से संप्रेषण अधिक सरलता से हो, शिक्षा तथा रोजगार, राजकाज आदि की दृष्टि से अधिक सक्षम भाषा के अनुरूप ही नीतियाँ निर्धारित की जाती हैं।

2. भाषा-व्यवहार में विकल्पन के कारण भाषा सतत गतिमान और परिवर्तनशील रहती है किन्तु भाषाई विकल्पन को एक निश्चित परिधि में रखकर उसे संतुलित रखना अत्यावश्यक है। इसके समाधान के लिए कोडीकरण (Codification) की प्रक्रिया अपनायी जाती है। इस प्रक्रिया के अंतर्गत लिपि के स्तर पर ध्वनि, शब्द, पद आदि के रूप को सुनिश्चित किया जाता है। अर्थात् लिपि का मानकीकरण किया जाता है जिसका व्याकरणगत एवं कोशगत प्रयोग होता है।

3. विज्ञान एवं तकनीकी क्षेत्र में नये आविष्कारों, अवधारणाओं के विकसित होने के साथ भाषा-प्रयोग विस्तार की माँग करता है। अतः भाषा के प्रयोग एवं प्रसार हेतु उसमें नवीनता लाना आवश्यक हो जाता है। इसके लिए भाषा में अन्य भाषाओं से संतुलित मात्रा में शब्दावली तथा नयी अभिव्यक्तियों का समावेश करना चाहिए।

4. समय के साथ भाषा-व्यवहार की कई शैलियाँ विकसित होने लगती हैं जिसका प्रयोग अलग-अलग समाज व क्षेत्र के लोग करते हैं। इन भिन्न शैलियों का विभेदीकरण और संवर्द्धन होना चाहिए।

फिशमैन ने भाषा-नियोजन के प्रारूप को पाँच स्तरों में विभाजित किया है। "(1) व्याकरण की समस्त इकाइयों का मानकीकरण, (2) भाषा-व्यवहार और भाषा-शिक्षण के लिए मानक/अमानक की पहचान, (3) भिन्न प्रकार के कोष-निर्माण में मानक और उसके भेदों का संकेत, (4) वर्तनी संशोधन और परिवर्तन तथा (5) पारिभाषिक शब्दावली निर्माण और उसका निर्धारण।"[23] इसमें भाषा के नियोजन हेतु दो पक्ष महत्वपूर्ण हैं- पहला, पद नियोजन (Status Planning) तथा दूसरा, सामग्री नियोजन (Corpus Planning) इसे भाषा-उपचार और भाषा-संशोधन भी कहा गया है। सारतः भाषा-नियोजन एक समाजभाषिक प्रक्रिया है जो समाज में व्याप्त भाषा-संबंधी समस्याओं के समाधान के साथ ही भाषा-विकास, प्रयोजनमूलक शैली तथा शिक्षा हेतु भाषा के रूप निर्धारण आदि को व्यवस्थित करता है। इसलिए फिशमैन ने भाषा-नियोजन को 'भाषा समस्याओं का भाषाविज्ञान' कहा है।

* *प्रयुक्ति (Register)*

भाषा विभिन्न आयामों, संदर्भों, प्रयोक्ताओं तथा प्रयोजनों के अनुकूल परिवर्तित होती रहती है। भिन्न भाषाई व्यवहार क्षेत्र जैसे वाणिज्य-व्यापार, घर, कार्यालय, कानून, विज्ञान, तकनीकी आदि में भाषा के प्रकार्यात्मक भेदों में भिन्नता देखी जाती है। जिन शब्दावलियों का प्रयोग वाणिज्यक क्षेत्र में होता है उनका

विज्ञान अथवा कार्यालयी संदर्भों में नहीं होता है। भाषिक-व्यवहार में संदर्भ के अनुसार भाषा के भेदों के अध्ययन हेतु प्रयुक्ति की अवधारणा मौजूद है। अलग-अलग क्षेत्र में विशेष पारिभाषिक अर्थयुक्त शब्दावली को प्रयुक्ति की संज्ञा दी गयी है। समाजभाषाविज्ञान में इन प्रयुक्तियों के माध्यम से भिन्न क्षेत्रों में होने वाले भाषिक भेदों का शैलीगत एवं प्रयोगगत संदर्भ-विश्लेषण किया जाता है। रीड के अनुसार "कोई भी भाषावैज्ञानिक दृष्टि से समरूप स्थितियों में समरूप व्यवहार नहीं करता- विभिन्न सामाजिक स्थितियों में उसका व्यवहार (भाषिक) बदलता जाता है। वास्तव में वह विभिन्न भाषा प्रयुक्तियों का प्रयोग करता है।"[24] कोई भी व्यक्ति भिन्न सामाजिक स्थितियों में भिन्न भूमिकाओं का निर्वहन करता है। प्रयुक्ति की संकल्पना को इन्हीं सामाजिक भूमिकाओं के साथ जोड़ते हुए कैटफोर्ड कहते हैं कि "प्रत्येक व्यक्ति अलग-अलग समय पर अलग-अलग भूमिकाएँ निभाता है। वह परिवार का मुखिया या मोटर चालक, क्रिकेट का खिलाड़ी या किसी धार्मिक समुदाय का सदस्य या जीव चिकित्सा का प्रोफेसर आदि हो सकता है। इन भूमिकाओं के निर्वाह में वह विभिन्न भाषा रूपों का प्रयोग करता है।"[25] प्रयुक्ति का प्रमुख आधार भाषा-व्यवहार के क्षेत्र विशेष की वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली तथा उसका व्याकरण होता है। प्रयुक्ति विधा एवं विषय के सापेक्ष सीमित क्षेत्रों में प्रयुक्त होती है। यह व्यक्ति-निरपेक्ष होती है तथा इसमें भाषिक संरचना और शाब्दिक अन्विति को अधिक महत्व दिया जाता है। शब्दों के अर्थ तथा उसके प्रयोग सुनिश्चित होने के कारण विषय की गंभीरता को देखते हुए प्रयुक्तियों का प्रयोग भाषा में किया जाता है। प्रसिद्ध भाषाविद् हैलिडे ने विषयगत, भूमिकागत और संदर्भगत प्रयोग के आधार पर भाषा-भेद की प्रयुक्तियों के तीन प्रमुख आयामों को दर्शाया है-

1. *वार्ता क्षेत्र (Field of Discourse):* इसके अंतर्गत भाषा-रूपों के तकनीकी तथा गैर-तकनीकी प्रयोग के आधार पर प्रयुक्ति को *तकनीकी* और *गैर-तकनीकी* वर्ग में विभाजित किया गया है। इसमें विषय के सिद्धांत के अनुरूप शब्दावली का प्रयोग होता है। यथा: वैज्ञानिक या तकनीकी भाषा तथा साहित्यिक भाषा आदि।

2. *वार्ता-प्रकार (Mode of Discourse):* भाषा-व्यवहार के मौखिक एवं लिखित रूप को आधार बनाकर प्रयुक्तियों को दो भागों में निश्चित किया जा सकता है। जैसे: प्रिंट मिडिया (अखबारों, पत्रिकाओं की भाषा) तथा इलेक्ट्रॉनिक मिडिया (रेडियो, टेलीविजन की भाषा) आदि।

3. *वार्ता-शैली (Style of Discourse):* भाषा-प्रयोग की स्थिति में व्यक्ति के संबंधों तथा स्थिति के आधार पर प्रयुक्तियों को औपचारिक एवं अनौपचारिक दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। यथा: औपचारिक (सेवा में, भवदीय जैसे शब्दों का प्रयोग होता है) तथा अनौपचारिक (प्रिय, प्रिये, आपका/आपकी) आदि।

* *प्रोक्ति (Discourse)*

प्रोक्ति एक समाजभाषिक संकल्पना है जो संप्रेषण, संदेश की पूर्णता तथा आशय और अभिव्यक्ति की सार्थकता से संबद्ध है। साहित्य में प्रोक्ति के लिए *'विमर्श'* शब्द प्रचलित है। संरचनात्मक भाषाविज्ञान वाक्य को भाषा की सर्वोपरि इकाई मानता है किन्तु समाजभाषाविज्ञान में वाक्योपरि इकाई *प्रोक्ति* को भाषा की महत्तम इकाई माना जाता है। जिस प्रकार रूपिम से शब्द, शब्दों से पदबंध, पदबंध से उपवाक्य तथा उपवाक्यों से वाक्य रचे जाते हैं। उसी प्रकार एकाधिक वाक्य व्यवस्थित रूप में जुड़कर प्रोक्ति की रचना करते हैं। वाक्य के माध्यम से संकेतार्थ को समझा जा सकता है किन्तु वक्ता के तात्पर्य और संपूर्ण बातचीत के अभिप्रेत को समझने के लिए प्रोक्ति की आवश्यकता होती है। प्रो० रवींद्रनाथ श्रीवास्तव के अनुसार "संप्रेष्य और संप्रेषण की अंतर्निहित आवश्यकता को साधने वाली इकाई, वाक्य से ऊपर की इकाई होती है, जिसे प्रोक्ति/पाठ के नाम से जाना जाता है। प्रोक्ति की संकल्पना, वाक्य की दो सीमाओं का अतिक्रमण करती है- पहला, वह वाक्य को संप्रेषण और संवादिता का संदर्भ प्रदान करती है और दूसरा, वह वाक्यार्थ को प्रयोगजन्य परिस्थितियों से जोड़कर उसे प्रयोजनपरक बनाती है। परिभाषा के रूप में कहा जा सकता है कि 'प्रोक्ति, तात्पर्ययुक्त संसक्त वाक्यों की एक व्यवस्थित कड़ी है जिसमें बँधकर संप्रेष्य (प्रतिपाद्य) अपना सावयव (पूर्ण) रूप ग्रहण करती है'।"[26] डॉ० भोलानाथ तिवारी प्रोक्ति की संकल्पना को महाकाव्य से द्योतित मानते हैं जो एकाधिक वाक्यों का समुच्चय है। उनके शब्दों में "तर्कपूर्ण, क्रमयुक्त और आपस में आतंरिक रूप से सुसंबद्ध, एकाधिक वाक्यों की ऐसी व्यवस्थित इकाई को प्रोक्ति कहते हैं जो संदर्भ-विशेष में अर्थद्योतन की दृष्टि से पूर्ण हो।"[27] प्रोक्ति के स्वरूप एवं परिभाषाओं पर विचार करने के पश्चात् इसकी कुछ सामान्य विशेषताओं को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है-

- प्रोक्ति वाक्यों की सुव्यवस्थित और सुनियोजित इकाई है।
- संसक्ति प्रोक्ति का अनिवार्य गुण है। अर्थात् प्रोक्ति के सभी वाक्य आपस में संबद्ध होते हैं और एक ही विषय पर संपूर्ण जानकारी को प्रेषित करते हैं।
- प्रोक्ति के सभी वाक्य तात्पर्ययुक्त होते हैं। वक्ता के भाषा-व्यवहार में प्रयुक्त होकर निश्चित संदेश और मंतव्य को उद्घाटित करते हैं। ये अर्थपूर्ण वाक्य ही प्रोक्ति को सारगर्भित बनाते हैं।
- प्रोक्ति में आतंरिक संगति होती है जिसके कारण रचना से संकेतार्थ के साथ-साथ विशेष व पूर्ण अर्थ की प्राप्ति होती है।
- प्रोक्ति का संबंध प्रकार्य से होता है, आकार से नहीं यानी प्रोक्ति के लिए यह जरूरी नहीं है कि उसमें एकाधिक वाक्यों का संसक्त संयोग हो बल्कि एक वाक्य की भी प्रोक्ति हो सकती है बशर्ते कि उसमें संदेश प्रेषण की पूर्ण क्षमता हो या कहें कि उस एक वाक्य में कई सारे संदेश श्लिष्ट हों। जैसे- 'फूल तोड़ना मना है।' यह एक वाक्य है लेकिन अपने आप में प्रोक्ति है क्योंकि इस वाक्य में कई सारे संदेश निहित हैं। जैसे- फूल न तोड़ें। फूलों में भी जान होती है। फूल केवल देखने के लिए हैं। फूल तोड़ना दंडनीय अपराध है ...आदि-आदि।
- प्रोक्ति की संरचना का मूलाधार संवाद है। वक्ता और श्रोता के बीच संदेश के संप्रेषण में प्रोक्ति की सार्थकता व्याप्त है। संवाद की स्थिति में वक्ता और श्रोता दोनों की भूमिकाएँ बदलती रहती हैं। इसके अतिरिक्त संदेश, संदर्भ, कोड तथा सरणी प्रोक्ति के अन्य महत्वपूर्ण घटक हैं।

प्रोक्ति को विधा, कथन, प्रतिभागियों की स्थिति आदि आधारों पर अलग-अलग भागों में विभाजित किया गया है किन्तु समाजभाषिक दृष्टि से प्रतिभागियों की संवाद में सक्रियता की स्थिति के आधार पर प्रोक्ति का विभाजन दृष्टव्य है-

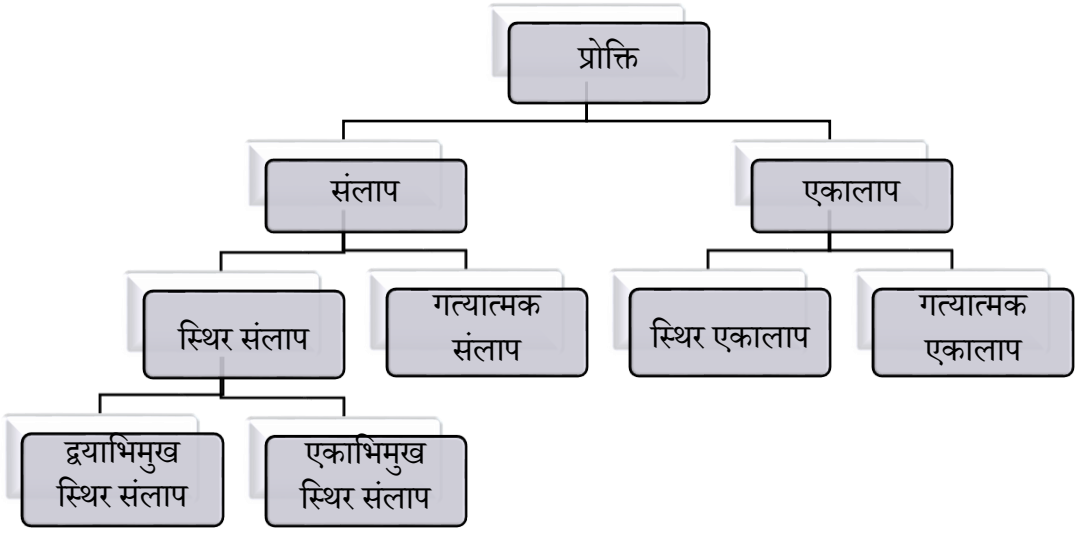

(चित्र संख्या 1.1: प्रोक्ति का वर्गीकरण)

वैसे तो भाषा में संवादिता की स्थिति की बनी रहती है। इसीलिए सैद्धांतिक रूप से भाषा-व्यवहार में संलाप की स्थिति मानी जाती है किन्तु अभिव्यक्ति की दृष्टि से देखा जाए तो प्रोक्ति को दो प्रमुख भागों में बाँटा जा सकता है-

1. *संलाप:* संलाप की स्थिति में वक्ता और श्रोता के बीच परस्पर सूचनाओं का आदान-प्रदान होता रहता है। अर्थात् संलाप हेतु वक्ता और श्रोता की भौतिक उपस्थिति अनिवार्य है तथा इन दोनों की भूमिकाएँ बदलती रहती हैं। वक्ता कुछ कहता है जिसके बाद श्रोता उत्तर में अपना मंतव्य देता है। इस प्रकार कभी वक्ता श्रोता बन जाता है तो कभी श्रोता वक्ता की भूमिका अदा करता है किन्तु इस दौरान भूमिकाओं में समानता अपेक्षित है। वार्तलाप की नियमसंहिता में असमानता की स्थिति होने पर संलाप की स्थिति बाधित होती है। इसके अलावा दोनों ही प्रतिभागियों का अनुभवजगत् समान होना चाहिए। संलाप को प्रतिभागिता के आधार पर दो उपवर्गों में विभाजित किया गया है-

a) *स्थिर संलाप:* स्थिर संलाप की स्थिति में वक्ता और श्रोता के बीच संप्रेषण में क्रिया-प्रतिक्रिया नहीं होती है। केवल वक्ता ही सक्रिय रहता है, श्रोता बिलकुल निष्क्रिय अवस्था में रहता है। वह वक्ता के कथन की प्रतिक्रिया में कुछ भी नहीं कहता है। इस स्थिति में वक्ता के लिए श्रोता कोई व्यक्ति विशेष नहीं रह जाता है। आमतौर पर औपचारिक बातचीत स्थिर संलाप की स्थिति को दर्शाते हैं। जैसे- कक्षा

में अध्यापन की स्थिति में अध्यापक और विद्यार्थियों के बीच का संलाप। पुनः स्थिर संलाप को भी दो भागों में विभाजित किया गया है। यथा -

i. *द्वयाभिमुख स्थिर संलाप:* इस स्थिति में वक्ता और श्रोता एक-दूसरे की ओर अभिमुख होते हैं किन्तु इन दोनों की भूमिकाएँ नहीं बदलती हैं। वक्ता सक्रियता से अपना मंतव्य प्रेषित करता है किन्तु श्रोता जवाब में भाषिक प्रतिक्रिया न देकर कुछ आंगिक चेष्टाओं अथवा भाषेतर प्रतीकों के माध्यम से अपनी सहमति-असहमति अभिव्यक्त करता है। जैसे: मंचीय भाषण और श्रोतागण, मंचित नाटक और उसके दर्शकगण आदि।

ii. *एकाभिमुख स्थिर संलाप:* इसमें वक्ता और श्रोता अलग-अलग व्यक्ति होते हुए भी एक-दूसरे के अभिमुख नहीं रहते हैं। इस संलाप में केवल वक्ता श्रोता की ओर उन्मुख होता है। इसमें वक्ता का लक्ष्य केवल संदेश के प्रेषण तक सीमित रहता है। श्रोता द्वारा तत्काल व पूर्ण रूप से संदेश के डिकोडीकरण को महत्व नहीं दिया जाता है। एकाभिमुख स्थिर संलाप में वक्ता का उद्देश्य सूचना देना अथवा मनोरंजन करना है। जैसे: आकाशवाणी, दूरदर्शन के समाचार, वार्ता, अन्य रिकॉर्डेड सामग्री आदि।

b) *गत्यात्मक संलाप:* इसमें वक्ता और श्रोता दोनों भौतिक रूप में उपस्थित रहकर अत्यंत तीव्रता और सक्रियता से अपनी भूमिकाएँ बदलते हुए संप्रेषण करते हैं। यह स्थिति प्रायः अनौपचारिक बातचीत में देखी जाती है। अर्थात् वक्ता-श्रोता के बीच परस्पर भूमिकाओं के घात-प्रतिघात की स्थिति में अनौपचारिकता अपेक्षतया कम होती है जिससे बातचीत में गत्यात्मकता बरक़रार रहती है। उदाहरण के तौर पर अनौपचारिक मित्रवत् वार्तालाप को देख सकते हैं।

2. *एकालाप:* एकालाप में अभिव्यक्ति के स्तर पर देखा जाए तो एक ही व्यक्ति वक्ता और श्रोता दोनों की भूमिकाएँ निभाता है जिसके कारण नियम-संहिता अनिवार्य नहीं होती है। दरअसल, एकालाप में भी संलाप की स्थिति तो होती है किन्तु प्रतिभागी एक ही होता है। एकालाप की स्थिति में अपूर्ण वाक्यों के बीच के भाषिक अंतराल भरने के क्रम में व्यक्ति स्वयं ही बोलता और सुनता है। 'स्व' की सक्रियता के आधार पर एकालाप को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है:

a) *स्थिर एकालाप:* स्थिर एकालाप की स्थिति में व्यक्ति स्वयं अपनी बात कहते जाता है तथा उसका स्व निष्क्रिय अवस्था में रहते हुए केवल श्रोता बना रहता है। उदाहरण- नितांत एकाकीपन की स्थिति में स्वयं से किया गया संवाद स्वगत कथन के अंतर्गत आता है।

b) *गत्यात्मक एकालाप:* इस स्थिति में व्यक्ति और उसका स्व दोनों समान रूप से बातचीत में सक्रिय रहते हैं। दोनों की भूमिकाएँ भी बदलती रहती हैं। व्यक्ति अपने आप से ही प्रश्न करता है और उसका स्व सक्रियता से उसका उत्तर देता है।

* *पुनरुक्ति (Reduplication)*

यह एक ऐसी भाषिक प्रवृत्ति है जिसमें एक ही शब्द की दो बार आवृति होती है। भाषा में पुनरुक्ति की प्रयोजनीयता के संदर्भ अलग-अलग होते हैं। 'प्रत्येक', 'बहुत', 'अतिरिक्त' तथा 'अधिकता' आदि भावों को यथास्थान दर्शाने के लिए पुनरुक्ति का प्रयोग होता है। पुनरुक्ति के तीन भेद हैं-

1. *पूर्ण पुनरुक्ति:* जहाँ एक ही शब्द की हू-ब-हू दो बार आवृति हो वहाँ पूर्ण पुनरुक्ति होती है। पूर्ण पुनरुक्ति में प्रयुक्त होने वाले दोनों ही शब्द संरचना और अर्थ की दृष्टि से पूर्णतः समान होते हैं। इनका कोशगत अर्थ होता है और भाषा में इसका स्वतंत्र प्रयोग भी किया जा सकता है। पूर्ण पुनरुक्ति का संज्ञा के संदर्भ *'प्रत्येक'* और विशेषण अथवा क्रिया विशेषण के संदर्भ में *'बहुत* या *अधिकता'* के अर्थ में प्रयोग होता है। जैसे: 'गाँव-गाँव, शहर-शहर में खबर फैल गयी' (यहाँ 'गाँव' तथा 'शहर' शब्द का दो बार प्रयोग 'प्रत्येक' के अर्थ को प्रकट करने के लिए किया गया है।) इसी तरह से 'बार-बार लिखकर प्रयास करो', 'कोयल की मधुर-मधुर आवाज' (यहाँ 'बार' तथा 'मधुर' शब्द का दो बार प्रयोग क्रमशः 'अधिकता' तथा 'विशेषण' के रूप में हुआ है) आदि।

2. *आंशिक पुनरुक्ति:* इसमें प्रयुक्त होने वाला दूसरा शब्द पहले शब्द की अपेक्षा आंशिक रूप से समान होता है। आंशिक पुनरुक्ति के दूसरे शब्द का न तो कोई कोशगत अर्थ होता है और न ही भाषा में इसका स्वतंत्र प्रयोग हो सकता है। इसका प्रयोग भाषा में *'अतिरिक्त'* के अर्थ में होता है। उदाहरण: रोटी-वोटी, दिल-विल, प्यार-व्यार आदि।

3. आधिक्यबोधक पुनरुक्ति :- जहाँ समान अर्थ वाले दो अलग-अलग शब्दों का प्रयोग हो लेकिन दोनों ही शब्द अलग-अलग भाषाओं के हों वहाँ आधिक्यबोधक पुनरुक्ति होती है। इसमें प्रयुक्त दोनों ही

शब्दों का कोशगत अर्थ होता है तथा दोनों ही शब्द भाषा में स्वतंत्र रूप से प्रयोग किये जाते हैं। जैसे: धन-दौलत (हिंदी-उर्दू), कथा-कहानी(संस्कृत-हिंदी), प्यार-मोहब्बत (हिंदी-उर्दू), हाट- बाज़ार (देशज-फारसी) आदि।

* *टॉपिकीकरण (Topicalization)*

जब किसी वाक्य-संरचना में वाक्य के किसी अंग विशेष पर बल देने के लिए उसे उसके नियत स्थान से स्थानांतरित कर वाक्य के प्रारंभ में स्थित कर दिया जाता है, तो ऐसी भाषिक स्थिति को टॉपिकीकरण कहते हैं। उदाहरण के तौर पर 'बाजार चलेगा तू' इस वाक्य में कर्म को वाक्य के प्रारंभ में लिखा गया है तथा उसके बाद क्रिया और कर्ता है, जो कि हिंदी की सामान्य वाक्य संरचना 'कर्ता+कर्म+क्रिया' के अनुसार नहीं है। यहाँ 'बाजार' पर बल देने के लिए उसे उसके नियत स्थान से स्थानांतरित किया गया है। इसी तरह से 'कोरा कागज़ था ये मन मेरा', बागानिया भाषा में 'फुसलाई के बिटिशे ले आलो आसाम (फुसला कर ब्रिटिश ले आये असम)', 'गलत बात तुई कभी नाई बोलबि (गलत बात तुम कभी न कहना)' आदि वाक्यों को देखा जा सकता है। इन सभी वाक्यों में प्रयुक्त वाक्य के अवयवों में विशेष प्रभाव उत्पन्न करने हेतु उनके व्याकरण सम्मत सामान्य स्थान से स्थानांतरित कर दिया गया है अतः इन वाक्यों में टॉपिकीकरण की स्थिति है।

उपर्युक्त सभी विवेचनों के आधार पर सारतः यह कहा जा सकता है कि समाजभाषाविज्ञान की भिन्न संकल्पनाओं के माध्यम से किसी भी भाषाई समाज में भाषा-व्यवहार के विविध आयामों का सर्वांगीण विवेचन किया जा सकता है। समाज सापेक्ष भाषा-व्यवहार में प्रयोक्ता की भाषा संदर्भ के अनुसार बदलती रहती है। समाजभाषाविज्ञान में इन भाषाई विकल्पनों के अध्ययन-विश्लेषण हेतु कोड मिश्रण, कोड अंतरण, द्विभाषिकता, बहुभाषिकता, प्रयुक्ति, प्रोक्ति, पुनरुक्ति, भाषाद्वैत आदि उपकरणों का प्रयोग किया जाता है। इनके आधार पर वक्ता-स्रोत के संबंध, आयु, शिक्षा, धर्म, पेशा, लिंग, क्षेत्र, विभिन्न सामाजिक स्थितियों के संदर्भ में सहजता से जाना जा सकता है। कुलमिलाकर भाषा और समाज के अंतःसंबंधों की बारीक पड़ताल की जा सकती है।

संदर्भ सूची-

18. नीलम चोपड़ा, कोड मिश्रण और भाषा व्यवहार, पृष्ठ संख्या. 29

19. Ronald Wardhaugh, An Introduction to Sociolinguistics, Page no. 106

20. भोलानाथ तिवारी और मुकुल प्रियदर्शिनी, हिंदी भाषा की सामाजिक संरचना, पृष्ठ संख्या. 28

21. नीलम चोपड़ा, कोड मिश्रण और भाषा व्यवहार, पृष्ठ संख्या. 35

22. Ronald Wardhaugh, An Introduction to Sociolinguistics, Page no. 101

23. R. A. Hudson, Sociolinguistics, Page no. 55

24. (Ed. Thom Huebner, Sociolinguistic Perspective: Papers on language in society (1959-1994 , Page no. 34-35

25. दिलीप सिंह, भाषा का संसार, पृष्ठ संख्या. 156

26. नीलम चोपड़ा, कोड मिश्रण और भाषा व्यवहार, पृष्ठ संख्या. 25

27. Ronald Wardhaugh, An Introduction to Sociolinguistics, Page no. 66

28. रवींद्रनाथ श्रीवास्तव और रमानाथ सहाय, हिंदी का सामाजिक संदर्भ, पृष्ठ संख्या. 119

29. दिलीप सिंह, भाषा का संसार, पृष्ठ संख्या. 153

30. रवींद्रनाथ श्रीवास्तव और रमानाथ सहाय, हिंदी का सामाजिक संदर्भ, पृष्ठ संख्या. 121

31. Ronald Wardhaugh, An Introduction to Sociolinguistics, Page no. 63

32. दिलीप सिंह, भाषा का संसार, पृष्ठ संख्या. 165

33. भोलानाथ तिवारी और मुकुल प्रियदर्शिनी, हिंदी भाषा की सामाजिक संरचना, पृष्ठ संख्या. 43

34. भोलानाथ तिवारी, हिंदी भाषा, पृष्ठ संख्या. 296

35. भोलानाथ तिवारी और मुकुल प्रियदर्शिनी, हिंदी भाषा की सामाजिक संरचना, पृष्ठ संख्या. 103

36. वही, पृष्ठ संख्या. 103

37. वही, पृष्ठ संख्या. 99

38. वही, पृष्ठ संख्या. 102

39. दिलीप सिंह, भाषा का संसार, पृष्ठ संख्या. 168

40. वही, पृष्ठ संख्या. 168

41. रवींद्रनाथ श्रीवास्तव और रमानाथ सहाय, हिंदी का सामाजिक संदर्भ, पृष्ठ संख्या. 270

42. वही, पृष्ठ संख्या. 270

43. रवींद्रनाथ श्रीवास्तव, हिंदी भाषा: संरचना के विविध आयाम, पृष्ठ संख्या. 204

44. भोलानाथ तिवारी, भाषाविज्ञान, पृष्ठ संख्या. 214